

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य विरचित

द्वात्रिंशिकाद्वयी



श्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

कीर्तिकला

हिन्दी भाषाऽनुवाद सहित

॥ अहम् ॥

श्रीनेमि-विज्ञान-कस्तूरसूरि सद्गुरुभ्यो नमः ।
कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य विरचिता

द्वात्रिंशिकाद्वयी ।

(अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुति तथा
अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुति ।)

श्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित

कीर्तिकला

हिन्दी भाषाऽनुवाद सहित

संपादकः-

वि. सं. २०१५

मुनि प्रबोधचन्द्रविजय

प्रकाशक :-
शा. भाईलाल अम्बालाल
पेटलादवाला

मुद्रक :-
के. सीताराम आल्व
साधना-मुद्रणालय
गान्धीनगर बेंगलोर-९

प. पू. आचार्य श्री विजय कस्तूरसूरि शिष्यरत्नम्



जनः प्रियश्चारुवचाः सुचेता रत्नत्रयाराधनधीधनाःढ्य ।
विराजते शारदसोमशुभ्रकीर्तिः सुनीतिर्गणिकीर्तिचन्द्रः ॥



शा. गीरधरलाल दामोदरदास

प्रकाशकीय

आज मैं इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सुअवसर मिलने के कारण अनुपम आनन्द तथा कृतकृत्यता का अनुभव कर रहा हूँ ।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'द्वारिंशिकाद्वयी' कलिकालसर्वज्ञ भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्य विरचित 'अयोगव्यवच्छेदद्वारिंशिका तथा अन्य-योगव्यवच्छेदद्वारिंशिका का संग्रह रूप है ।

इन दोनों स्तुतियों के उपर संस्कृत में अनेक व्याख्या तथा अवचूरिकाओं के होने का सम्भव है । किन्तु अयोगव्यवच्छेदद्वारिंशिका का हिन्दी तथा गुजराती अनुवाद उपलब्ध हैं, संस्कृत व्याख्या उपलब्ध नहीं । अन्ययोगव्यवच्छेद द्वारिंशिका के उपर आचार्य श्रीमल्लिषेण सूरीश्वरजी कृत 'स्याद्वादमञ्जरी' नामक विस्तृत तथा व्युत्पन्नमतिभोग्य संस्कृत टीका उपलब्ध है । तथा हिन्दी तथा गुजराती अनुवाद तथा अन्य कई अवचूरिकायें भी उपलब्ध हैं । इन दोनों द्वारिंशिकाओं का अध्ययन आज जैन समाज में अत्यन्त आदर के साथ किया जाता है ।

प्रस्तुत द्वारिंशिकाद्वयी पर 'कीर्तिकला' नामक संस्कृत टीका तथा हिन्दी भाषानुवाद--जिस के प्रकाशन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है--के रचयिता विद्वद्गुरुमुनिराज श्रीकीर्तिचन्द्रविजयजी गणिवर महाराज हैं, जो सांसारिक सम्बन्ध से मेरे लवु सहोदर हैं ।

वे आज से तेरह वर्षपूर्व आचार्यवर्य श्रीविजयविज्ञानसूरीश्वरजी महाराज के पवित्र करकमलों द्वारा दीक्षित हुये, और आचार्यवर्य श्रीविजय कस्तुरसूरीश्वरजी महाराज के शिष्य बने ।

आप ने इस असार संसार के स्वरूप का अपनी पत्नी को सांसारिक अवस्था में ही सदुपदेश देकर संयममार्ग का पथिक बनाया । जिनका शुभनाम साध्वी श्रीजयप्रभाश्रीजी है । और आपने मुनिराज (सम्प्रति पन्यासप्रवर) श्री शुभङ्कर विजयजी महाराज के साथ सं० २००७ का चातुर्मास अपने जन्मस्थल पेटलाद में किया था, उस चातुर्मास की स्थिरता में आपने अपनी लघुभगिनी सविता को भी संयम मार्ग का उपदेश देकर दीक्षित किया, जो साध्वीश्री सत्यप्रभाश्रीजी के शुभनाम से ख्यात हैं । तदुपरांत आपने अपने जीवन का अमूल्य समय पूज्य गुरुदेव की भक्ति एवं सम्यग्ज्ञानोपार्जन में हीं अपूर्व दृढचित्तता के साथ बिताया है । आपने व्याकरण, न्याय, साहित्य तथा जैन दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया है । आप के भक्तिभावपूर्णहृदय, तेजस्विता, विचक्षण-बुद्धि, लोकप्रियता, व्याख्यान कौशल आदि कई गुणों को देखकर पूज्य गुरुदेवों ने पूना नगर में चातुर्मास के अनन्तर सं. २०१४ के मार्गशीर्ष शुदि दशमी रविवार को पञ्चमांग श्री भगवतीसूत्र का योगोद्धहन कराकर गणि पदवी से अलङ्कृत कर जैनशासन को प्रदीप्त करने का शुभ आशीर्वाद प्रदान किया ।

(इ)

पूना से कविरत्न समर्थ व्याख्यानकार पन्यास श्रीयशोभद्रविज. यजी महाराज के साथ विहार करते हुये आप दक्षिण में बेंगलोर नगर पधारे, तथा उसके उपनगर गान्धीनगर श्रीसंघ की चातुर्मासार्थ आग्रहपूर्ण विनती का स्वीकार कर पू. पं. श्री की आज्ञा से चातुर्मासार्थ गान्धीनगर पधारे, तथा इस चातुर्मास में ही आपने उक्त द्वात्रिंशिकाद्वयी की 'कीर्तिकला' नामक संस्कृत व्याख्या तथा हिन्दी भाषानुवाद की रचना की है। यहां यह उल्लेखनीय है कि अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका की संस्कृत व्याख्या कर पूज्य गणिवर श्री ने अपूर्व कार्य किया है, जिसके फलस्वरूप एक अनपेक्षित न्यूनता का परिहार हुआ है। यह अत्यन्त अभिनन्दनीय तथा हर्ष की बात है।

इस मूल्यवान् पुस्तक के प्रकाशनार्थ कई पुण्यशालियों ने आर्थिक सहायता प्रदान कर मुझ को अत्यन्त उपकृत किये हैं। उन महानुभावों की शुभनामावली इस पुस्तक में अन्यत्र उल्लिखित है। इस अवसर पर मैं उन महानुभावों का सहर्ष आभार मानता हूँ। तथा प्रा. श्री हीरालाल रसिकदास कापडीयाजी ने विस्तृत तथा मननीय प्रस्तावना लिखकर इस पुस्तक के गौरव में जो अभिवृद्धि की है, तदर्थ मैं सहर्ष अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ।

यहां पर विशेषरूप से यह सूचित करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि दानवीर भावनगर निवासी श्रेष्ठिवर्य

श्रीगिरधरलाल दामोदरदासजी के सुपुत्र 'शान्तिरालभाई, नटवरलाल-भाई, तथा हीरालालभाई' तीनों भाइयों ने 'कीर्तिकला' हिन्दी भाषानुवाद का अवलोकन कर उसकी सरलता, तथा उस में किया गया विलक्षण दृष्टि से भावार्थ का प्रतिपादन तथा मनोज्ञता से प्रभावित होकर उक्त अनुवाद के साथ मूल द्वात्रिंशिकाद्वयी के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्ययभारवहन का स्वीकार कर प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय उदारता बतलायी है। जिससे इस पुस्तक के (कीर्तिकला संस्कृत व्याख्या तथा हिन्दी भाषानुवाद एवं मूल तथा हिन्दी भाषानुवाद) पृथक् पृथक् दो प्रकाशन सम्भव हो सके। उक्त तीनों भाइयों ने निजबुद्धिबल से प्रगति की है, तथा एक सुप्रतिष्ठित पेढी (धी सीनियर सायकल इम्पोर्टिंग कॅ० बंगलोर सिटी) के कार्यकर्त्ता हैं। तथा आप लोगो नें पूज्य महाराजश्री के चातुर्मास काल में अनेक धर्मक्रियाओं में सोत्साह एवं भक्तिपूर्वक भाग लिया है। तथा महाराजश्री का अपने बंगले पर चातुर्मास परिवर्तन कराकर उस के उपलक्ष में अपनी लक्ष्मी का अनेक शुभकार्यों में सदुपयोग कियाथा। इस प्रकार के धर्मप्रेमी तथा ज्ञानाराधन की भावनावाले उक्त तीनों भाइयों को जितना भी धन्यवाद दिया जाय, थोड़ा है।

पाठकों से सविनय निवेदन है कि—प्रस्तुत पुस्तक के मुद्रण काल में प्रूफ संशोधन आदि में सावधानी रखने पर भी दृष्टिभ्रम से तथा मुद्रण दोष से कितनी अशुद्धियां रह गयी हैं। तथा कुछ पाठ

(3)

त्रुटित रह गये हैं । इसलिये साथ में शुद्धिपत्रक दे दिया गया है । जिस का पठन पाठन के समय आवश्यकतानुसार उपयोग करेंगे । संस्कृत व्याख्या सहित पुस्तक में दोनों द्वात्रिंशिकाओं के मूल श्लोक मात्र पृथक् भी दे दिये गये हैं, जिससे अभ्यासियों को आवृत्ति आदि में सुविधा हो ।

आशा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन तथा अध्यापन के द्वारा जिज्ञासुजन आप का परिचय प्राप्त कर सम्यक्त्व को दृढ करने में प्रगति करेंगे इति

भवदीय—

शा भाईलाल अम्बालाल का
जय जिनेन्द्र ।



शुद्धिपत्रक

पृ.	प.	अशुद्ध	शुद्ध
१०९	१०	शृङ्गाण्युप	शृङ्गाण्युप
११०	२०	कलृसे	कलृसे
११४	१८	ने	न
११८	१४	वच्चा	वच्चा
११९	१७	वरना	करना
१२३	१०	अप्रामकाणि	अप्रामाणिक
१३०	८	लिय	लिये
१३२	१९	हते	होते
१३२	२०	धारण	धारणा
१३९	३	सामन्य	सामान्य
१५७	९	पितृत्व	पितृत्व

॥ अहम् ॥

श्री विजयनेमि-विज्ञान-कस्तूर-स्वरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

॥ अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिः ॥

अगम्भमध्यात्मविदामवाच्यं वचस्विनामक्षवतां परोक्षम् ।
श्रीवर्द्धमानाभिधमात्मरूपमहं स्तुतेर्गोचरमानयामि ॥ १ ॥
स्तुतावशक्तिस्तव योगिनां न किं, गुणानुरागस्तु ममापि निश्चलः ।
इदं विनिश्चित्य तव स्तवं वदन् न बालिशोऽप्येष जनोऽपराध्यति ॥
क सिद्धसेनस्तुतयो महार्थाः, अशिक्षितालापकला क चैषा ? ।
तथापि यूथाधिपतेः पथस्थः स्वल्ङ्गगतिस्तस्य शिशुर्न वाच्यः ॥ ३ ॥
जिनेन्द्र ! धानेव विबाधसे स्म दुरन्तदोषान् विविधैरुपायैः ।
त एव चित्रं त्वदसूययेव कृताः कृतार्थाः परतीर्थनार्थैः ॥ ४ ॥
यथास्थितं वस्तु दिशन्नधीश ! न तादृशं कौशलमाश्रितोऽसि ।
तुरङ्गशृङ्गण्युपपादयद्भयो नमः परेभ्यो नवपण्डितेभ्यः ॥ ५ ॥
जगन्त्यनुध्यानबलेन शश्वत् कृतार्थयत्सु प्रसर्भं भवत्सु ।
किमाश्रितोऽन्यैः शरणं त्वदन्यः स्वमांसदानेन वृथा कृपाळुः ? ॥
स्वयं कुमारं लपतो नु नाम प्रलम्भमन्यानपि लम्भयन्ति ।
सुमार्गं तद्विदमादिशन्तमसूययाऽन्धा अंमन्वते च ॥ ७ ॥

प्रादेशिकेभ्यः परशासनेभ्यः पराजयो यत्तव शासनस्य ।
 खद्योतपोतदयुतिडम्बरेभ्यो विडम्बनेयं हरिमण्डलस्य ॥ ८ ॥
 शरण्य ! पुण्ये तव शासनेऽपि संदेग्धि यो विप्रतिपद्यते वा ।
 स्वादौ स तथ्ये स्वहिते च पथ्ये संदेग्धि वा विप्रतिपद्यते वा ॥ ९ ॥
 हिंसाद्यसत्कर्मपथोपदेशादसर्वविन्मूलतया प्रवृत्तेः ।
 नृशंसदुर्बुद्धिपरिग्रहाच्च ब्रूमस्त्वदन्यागममप्रमाणम् ॥ १० ॥
 हितोपदेशात् सकलज्ञकूलभेर्नुमुक्षुसत्साधुपरिग्रहाच्च ।
 पूर्वापारार्थेष्वविरोधसिद्धेस्त्वदागमा एव सतां प्रमाणम् ॥ ११ ॥
 क्षिप्येत वाऽन्यैः सहशीक्रियेत वा तवाङ्घ्रिपीठे लुठनं सुरेशितुः ।
 इदं यथावस्थितवस्तुदेशनं परैः कथङ्कारमपाकरिष्यते ? ॥ १२ ॥
 तद्दुःषमाकालखलाघितं वा पचेलिमं कर्म भवानुकूलम् ।
 उपेक्षते यत्तव शासनार्थमयं जनो विप्रतिपद्यते वा ॥ १३ ॥
 परःसहस्राः शरदस्तपांसि युगान्तरं योगमुपासतां वा ।
 तथापि ते मार्गमनापतन्तो न मोक्ष्यमाणा अपि यान्ति मोक्षम् ॥ १४ ॥
 अनाप्तजाड्यादिविनिर्मितत्वसम्भावनासम्भविविप्रलम्भाः ।
 परोपदेशाः परमाप्तकूलस्योपदेशे किमु संरभन्ते ? ॥ १५ ॥
 यदाज्जवादुक्तमयुक्तमन्यैस्तदन्यथाकारमकारि शिष्यैः ।
 न विप्लवोऽयं तव शासनेऽभूदहो ! अघृण्या तव शासनश्रीः ॥ १६ ॥
 देहाद्ययोगेन सदाशिवत्वं, शरीरयोगादुपदेशकर्म ।
 परस्परस्पर्धि कथं घटेत परोपकूलैस्त्वधिदैवतेषु ? ॥ १७ ॥

प्रागेव देवान्तरसंश्रितानि रागादिरूपाण्यवमान्तराणि ।
 न मोहजन्यां करुणामपीश ! समाधिमाध्यस्थ्ययुगाश्रितोऽसि ॥१८॥
 जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुनर्यथा तथा वा पतयः प्रवादिनाम् ।
 त्वदेकनिष्ठे भगवन् ! भवक्षयक्षमोपदेशे तु परं तपस्विनः ॥१९॥
 वपुश्च पर्यङ्कशयं श्लथं च, दृशौ च नासानियते स्थिरे च ।
 न शिक्षितेयं परतीर्थनाथैर्जिनेन्द्र ! मुद्राऽपि तवान्यदास्ताम् ॥२०॥
 यदीयसम्यक्त्वबलात् प्रतीमो भवादृशानां परमस्वभावम् ।
 कुवासनापाशविनाशनाय नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय ॥ २१ ॥
 अपक्षपातेन परीक्षमाणा द्वयं द्वयस्याप्रतिमं प्रतीमः ।
 यथास्थितार्थप्रथनं तवैतदस्थाननिर्वन्धरसं परेषाम् ॥ २२ ॥
 अनाद्यविद्योपनिपन्निषण्णैर्विशृङ्खलैश्चापलमाचरद्भिः ।
 अगूढलक्ष्योऽपि पराक्रिये यत् त्वत्किङ्करः किं करवाणि देव ! ? ॥
 विमुक्तवैरव्यसनानुबन्धाः श्रयन्ति यां शाश्वतवैरिणोऽपि ।
 परैरगम्यां तव योगिनाथ ! तां देशनाभूमिमुपाश्रयेऽहम् ॥ २४ ॥
 मदेन मानेन मनोभवेन क्रोधेन लोभेन च सम्मदेन ।
 पराजितानां प्रसभं सुराणां वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम् ॥ २५ ॥
 स्वकण्ठपीठे कठिनं कुठारं परे किरन्तः प्रलपन्तु किञ्चित् ।
 मनीषिणां तु त्वयि वीतराग ! न रागमात्रेण मनोऽनुरक्तम् ॥ २६ ॥
 सुनिश्चितं मत्सरिणो जनस्य न नाथ ! मुद्रामतिशेरेते ते ।
 माध्यस्थ्यमास्थाय परीक्षका ये मणौ च काचे च समानुबन्धाः ॥२७

इमां समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणामुदारघोषामवघोषणां ब्रुवे ।
 न वीतरागात् परमस्ति दैवतं न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थितिः ॥ २८ ॥
 न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।
 यथाक्त्वासत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीर ! प्रमुमाश्रिताः स्मः ॥ २९ ॥
 तमःस्पृशामप्रतिभासभाजं भवन्तमप्याशु विविन्दते याः ।
 महेम चन्द्रांशुहृशोऽवदातास्तास्तर्कपुण्या जगदीश ! वाचः ॥ ३० ॥
 यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तथा ।
 वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन् ! नमोऽस्तु ते ॥ ३१ ॥

इदं श्रद्धामात्रं तदथ परनिन्दां मृदुधियो
 विगाहन्तां हन्त ! प्रकृतिपरवादव्यसनिनः ।
 अरक्तद्विष्टानां जिनवर ! परीक्षाक्षमधिया-
 मयं तस्वालोकः स्तुतिमयमुपाधिं विधृतवान् ॥ ३२ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता
 अयोग्यवच्छेदद्वारिंशिकास्तुतिः समाप्ता ॥



अहम्

॥ श्रीविजयनेमि-बिज्ञान-कस्तूर-सरिसद्गुरुभ्योनमः ॥

॥ अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिः ॥

अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।

श्रीवर्द्धमानं जिनमाप्तमुख्यं स्वयम्भुवं स्तोतुमहं यतिष्ये ॥ १ ॥

अयं जनो नाथ ! तव स्तवाय गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव ।

विगाहतां किन्तु यथार्थवादमेकं परीक्षाविधिदुर्विदग्धः ॥ २ ॥

गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।

तथापि सम्मील्य विलोचनानि विचारयन्तां नयवर्त्म सत्यम् ॥ ३ ॥

स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो भावा न भावान्तरनेयरूपाः ।

षरात्मतत्त्वाद्दत्तात्मतत्त्वाद् द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्वलन्ति ॥ ४ ॥

आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि वस्तु ।

तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥ ५ ॥

कर्त्ताऽस्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।

इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥ ६ ॥

न धर्मधर्मित्वमतीबभेदे, वृत्त्याऽस्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति ।

इहेदमित्यस्ति मत्तिश्च वृत्तौ, न गौणभेदोऽपि च लोकघाघः ॥ ७ ॥

सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्ता, चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत् ।
 न संविदानन्दमयी च मुक्तिः, सुसूत्रमासूत्रितमत्वदीयैः ॥ ८ ॥
 यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतत् ।
 तथापि देहाद् बहिरात्मतस्त्वमतस्त्ववादोपहताः पठन्ति ॥ ९ ॥
 स्वयं विवादग्रहिले वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे जनेऽस्मिन् ।
 मायोपदेशात् परमर्म भिन्दन्नहो ! विरक्तो मुनिरन्यदीयः ॥ १० ॥
 न धर्महेतुर्विहिताऽपि हिंसा, नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च !
 स्वपुत्रघातान् नृपतिवलिप्सासब्रह्मचारि स्फुरितं परेषाम् ॥ ११ ॥
 स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः प्रकाशते नार्थकथाऽन्यथा तु ।
 परे परेभ्यो भयतस्तथापि प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥ १२ ॥
 माया सती चेद् द्वयतस्त्वसिद्धिरथासती हन्त ! कुतः प्रपञ्चः ? ।
 मायैव चेदर्थसहा च तर्कि ? माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम् ॥ १३ ॥
 अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं, द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् ।
 अतोऽन्यथा वाचकवाच्यकूलसावतावकानां प्रतिभाप्रमादः ॥ १४ ॥
 चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः, शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि ।
 न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति कियज्जडैर्न ग्रथितं विरोधि ॥ १५ ॥
 न तुल्यकालः फलहेतुभावो, हेतौ विलीने न फलस्य भावः ।
 ने संविदद्वैतपथेऽर्थसंविद्, विलिनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ॥ १६ ॥
 विना प्रमाणं परवन्न शून्यः स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत ।
 कुप्येत् कृतान्तः स्पृशते प्रमाणमहो ! सुदृष्टं त्वदसूयिदृष्टम् ॥ १७ ॥

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।
 उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो ! महासाहसिकः परस्ते ॥ १८ ॥
 सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च नाभेदभेदाऽनुभयैर्घटेते ।
 ततस्तटाऽदर्शिशकुन्तपोतन्यायात् त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ॥ १९ ॥
 विनाऽनुमानेन पराभिसन्धिमसंविदानस्य तु नास्तिकस्य ।
 न साम्प्रतं वक्तुमपि क्व चेष्टा ? क्व दृष्टमात्रं च ? हहा ! प्रमादः ॥ २० ॥
 प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगिस्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
 जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते यः स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा ॥ २१ ॥
 अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।
 इति प्रमाणान्यपि ते कुवादिकुरङ्गसन्त्रासनसिंहनादाः ॥ २२ ॥
 अपर्ययं वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् ।
 आदेशभेदोदितसप्तभङ्गमदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम् ॥ २३ ॥
 उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च ।
 इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥ २४ ॥
 स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ।
 विपश्चितां नाथ ! निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्धारपरम्परेयम् ॥ २५ ॥
 य एव दोषाः किल नित्यवादे विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
 परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु जयत्यधृष्यं जिन ! शासनं ते ॥ २६ ॥
 नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।
 दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥ २७ ॥

सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधाऽर्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।
 यश्चाश्चदक्षीं तु नयप्रमाणपथेन दुर्नीतिपथं त्वमास्थः ॥ २८ ॥
 मुक्तोऽपि वाभ्येतु भवं भयो वा भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे ।
 षड्जीवकायं त्वमनन्तसङ्ख्यमाख्यस्तथा नाथ ! यथा न दोषः ॥२९॥
 अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणःप्रवादाः ।
 नथानशेषानविशेषमिच्छन् न पक्षपाती समवस्तथा ते ॥ ३० ॥
 वाग्वैभवं ते निखिलं विवेक्तुमाशास्महे चेन्महनीयमुख्य ! ।
 लङ्घ्येम जङ्घालतया समुद्रं वहेम चन्द्रद्यूतिपानतृष्णाम् ॥ ३१ ॥

इदं तस्त्वाऽतस्त्वव्यतिकरकरालेऽन्धतमसे
 जगन्मायाकारैरिव हतपरैर्हा ! विनिहितम् ।
 तदुद्धर्तुं शक्तो नियतमविसंवादिवचन-
 स्वमेवातस्त्रातस्त्वयि कृतसपर्याः कृतधियः ॥ ३२ ॥

इतिकलिकालसर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता
 अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिःसमाप्ता ।



॥ अर्हम् ॥

श्री विजयनेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

॥ अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिः ॥

॥ कीर्तिकलाख्यो हिन्दीभाषाऽनुवादः ॥

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य महाराज जिनेश्वर आस हीं हैं, इस अभिप्राय से तीर्थङ्कर महावीर भगवान की स्तुति का प्रारम्भ करते हैं—

जो योगियों के भी जानने योग्य नहीं है, शब्द प्रयोग में चतुर ऐसे कवि आदि के भी वर्णन करने योग्य नहीं हैं, तथा समर्थ=स्थूलसूक्ष्मग्राही=इन्द्रियवालों के भी जो परोक्ष हैं । (क्यों कि मुक्त आत्मा निर्गुण होती है । और निर्गुण पदार्थ मन, ज्ञान, वाणी, तथा इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता ।) तथा (कीर्ति आदि गुणों के क्षण क्षण में बढ़ते रहने के कारण, सगुण अवस्था में) जो वर्धमान नाम से ख्यात हैं, ऐसे परमात्मा की मैं स्तुति करता हूँ ॥ १ ॥

(यद्यपि ऐसे परमात्मा की स्तुति मेरे जैसे अल्पज्ञ से

अशक्य है, किन्तु) हे ! भगवन् ! आप की स्तुति में योगी भी असमर्थ नहीं हैं क्या ? । (यदि ऐसा कहा जाय की असमर्थ होने पर भी योगी लोग भगवान् के गुणों में अनुराग होने के कारण स्तुति करने में प्रवृत्त होते हैं, क्यों कि प्रेम से असाध्य कार्य में भी लोग प्रवृत्त होते हैं, तो) गुणों के विषय में मेरा भी अनुराग दृढ तथा स्थिर है । इस विचार से आप की स्तुति करता हुआ अल्पज्ञ भी यह जन कोई अपराध नहीं करता है । यदि गुण में अनुराग से एक असमर्थ की प्रवृत्ति अपराध नहीं है, तो दूसरे की भी वह प्रवृत्ति अपराध नहीं है । दोष सब के लिये दोष होता है, एक के लिये ही नहीं । ॥ २ ॥

श्री सिद्धसेन दिवाकर कृत महान् अर्थवाली आप की स्तुति कहां ?, और अल्पज्ञ ऐसे मेरी टूटी फूटी बाणी कहां ? । (दोनों में बहुत अधिक अन्तर है ।) तथापि गजेन्द्र का अनुसरण करता हुआ ठेस खाता लंगराता उसका वच्चा उपालम्भ का पात्र नहीं । (मैं भी महान् का अनुसरण करते हुए ही स्तुति में प्रवृत्त हुआ हूँ । इसलिये उस में त्रुटि होने परभी, उसको आलोचना का विषय नहीं मानना चाहिये ।) ॥ ३ ॥

(जिनेन्द्र के सिवाय अन्य तीर्थङ्करों की स्तुति इष्ट नहीं है । क्यों कि) हे जिनेन्द्र ! मुक्ति तथा तत्त्वज्ञान आदि के विरोधी होने के कारण जिन अनर्थकारी हिंसा स्त्रीपरिग्रह आदि, अथवा राग-

द्वेष आदि दोषों को आपने चारित्र्य पालन आदि अनेक उपायों के द्वारा दूर किये । उन दोषों को हीं, दूसरे तीर्थों के प्रवर्त्तकों ने आप के गुणों में दोषों के आरोप करने के कारण हीं जैसे, सार्थक किये हैं । यह आश्चर्य है । (जो गुण में दोष का आरोप करता है, वह दोष को गुण मान कर स्वीकार कर लेता है । अन्यथा गुण में दोष का आरोप नहीं किया जा सकता । इसलिये दूसरे तीर्थङ्कर इस दोष को स्वीकार कर स्वयंदूषित हो गये हैं । इसलिये दोष सार्थक हुआ । दूषित करने से दोष कहा जाता है । आपने तो उसका त्याग हीं कर दिया है, यदि दूसरे भी उसका त्याग कर दें तो किसीको दूषित नहीं करने के कारण दोष निरर्थक हो जाता । विवेकी लोगों की ऐसी प्रवृत्ति देखी नहीं गयी, इसलिये यह आश्चर्य है । इस प्रकार आप राग-द्वेष आदि दोषो से रहित हैं । तथा दूसरे तीर्थकर द्वेष आदि दोषों से युक्त हैं । इसलिये उनकी स्तुति इष्ट नहीं । गुणवान् की स्तुति की जाती है, दोषी की नहीं ।) ॥४॥

हे वीर जिन ! यथार्थ स्वरूप में वस्तु का उपदेश देने के कारण आप दूसरे तीर्थकरों के जैसा कौशल नहीं रखते हैं । (वस्तु अनेकान्त रूप है, उस रूप में उसका प्रतिपादन वरना कौशल नहीं । क्यों कि वस्तु स्वयं उस रूप में है । दूसरे रूप से प्रतिपादन करना तो कौशल के विना सम्भव नहीं । इसलिये) घोड़े के सींग के जैसे असत् एकान्त को प्रतिपादन करते हुए विचित्र प्रतिभा-वाले दूसरे तीर्थकरों को नमस्कार हो । (आप यथार्थ कहने

वाले हैं । दूसरे नहीं । इसलिये उनको दूर से ही नमस्कार करना चाहिये । उनसे सूचना या उनका अनुसरण योग्य नहीं ।) ॥५॥

हे जिनेन्द्र ! केवलज्ञानालोक से प्रत्यक्ष देखने के कारण (निष्कारण वत्सलता से) सदा ही आग्रह पूर्वक (सदुपदेशादि के द्वारा) जगत को कृतार्थ करते रहने पर भी, दूसरे लोगों के द्वारा (जीव को बचाने के लिये बाघ को) अपना मांस देकर व्यर्थ के दयालु कहलाने वाले आपसे भिन्न तीर्थकर क्या आश्रित किये गये हैं ? । (दयालुता उन में नहीं है । क्यों कि एक जीव को बचाने के लिये अपना मांस देकर मांस में रहनेवाले अनेक जीवों के नाश में कारण बने । ऐसी स्थिति में सर्वजीवों को कृतार्थ करने वाले आपका आश्रय ही उचित है ।) ॥ ६ ॥

हे जिनेन्द्र !, (उन को समझाया भी नहीं जा सकता, क्यों कि-) वे लोग स्वयं तो कुमार्ग को प्राप्त करते ही हैं, साथ ही धर्म की जिज्ञासा से पूछनेवाले को भी कुमार्ग में ही ले जाते हैं । तथा गुण में दोष देखने के कारण अन्धों के जैसे ही दोषों के न देखने वाले वे लोग, सन्मार्ग के जानने वाले, सन्मार्ग पर चलने वाले तथा हितबुद्धि से सन्मार्ग के बतलाने वाले का आदर नहीं करते । (इसलिये केवल आप ही सन्मार्ग के जानने वाले, सन्मार्ग पर चलने वाले तथा सन्मार्ग उपदेश देने वाले हो, दूसरे नहीं) ॥ ७ ॥

हे जिनेन्द्र ! दूसरे तीर्थकरों के सिद्धान्त एकान्तवाद हैं, क्यों कि वह पदार्थ के किसी एक अंशका हीं प्रतिपादन करते हैं । आप का सिद्धान्त तो अनेकान्तवाद है, क्यों कि वह वस्तु में रहने-बाले अनन्त धर्मों का प्रतिपादन करता है । इसलिये एकदेशी पर-शासनों से आपके सार्वदेशिक शासन की पराजय की बात, जुगनू के प्रकाशके आडम्बर से सूर्यमण्डल का पराभव जैसा हीं है । (एकान्त वाद एकदेश को प्रकाशित करने वाले या एकदेशी राजाके समान है, तथा अनेकान्तवाद सर्व अंश को प्रकाशित करने वाले सूर्यमण्डल के समान या सार्वभौमचक्रवर्ती राजा के समान है । इसलिये दोनों में जयपराजय की बात हीं असङ्गत है ।) ॥८॥

हे पालनहार ! जिनेन्द्र ! (युक्तियुक्त तथा सन्मार्गप्रदर्शक होनेके कारण) पवित्र सत्य तथा पुण्यकारक ऐसे आपके शासन में जो सन्देह तथा अश्रद्धा करता है, वह रुचिकर तथा हितकर पथ्य में सन्देह तथा अश्रद्धा करने वाले (रोगी) के समान है । (वह कभी भी भव रोग से मुक्ति नहीं पा सकता है) ॥ ९ ॥

हे जिनेन्द्र ! आप से भिन्न तीर्थकरों के आगम प्रामाणिक नहीं हैं, । क्यों कि वे हिंसा आदि से सम्पन्न होने वाले यज्ञ आदि असत् कर्ममार्ग का उपदेश करने वाले हैं । सर्वज्ञ के द्वारा उन आगमों की रचना नहीं हुई है । तथा क्रूर एवं दुर्बुद्धि लोग हीं उन आगमों का स्वीकार करने वाले हैं । (ये सब प्रामाणिक आगम के लक्षण नहीं हैं) ॥ १० ॥

हे जिनेन्द्र ! आपके आगम हीं सज्जनों के लिये प्रमाण-भूत हैं । क्यों कि आपके आगम मुक्ति आदि हितकर मार्ग के उपदेश करनेवाले हैं, आप जैसे सर्वज्ञ से रचित हैं, मुमुक्षु, विद्वान्, तथा परोपकारी ऐसे साधुजनों ने उनका स्वीकार किया है । एवं आपके आगम में आगे और पीछे के अर्थों में कहीं भी विरोध नहीं है । (यही सब प्रामाणिक आगम के लक्षण हैं । दूसरों के आगमों में तो पूर्व में हिंसा का निषेध किया जाता है, आगे जाकर यज्ञादि कार्यों में उसी हिंसा का विधान किया जाता है । इस प्रकार उन आगमों में पूर्व तथा पर पदार्थों में विरोध स्पष्ट ही है ।) ॥११॥

हे जिनेन्द्र ! दूसरे लोगों के द्वारा आपके चरणों के आसन पर देवेन्द्र के आलोटने (आप के चरणकमलों में देवेन्द्र द्वारा किये गये प्रणामों) का खण्डन किया जा सकता है । (क्यों कि वह कोई देखता नहीं) । अथवा 'मेरे तीर्थंकर को भी देवेन्द्र प्रणाम करते हैं, ऐसा कहकर, समानता बतलायी जा सकती है । किन्तु आपके यथार्थ स्वरूप में पदार्थ के उपदेश का निराकरण कैसे किया सकता है ? । (क्यों कि वस्तु प्रत्यक्ष हैं । इसलिये उनका अपलाप नहीं किया जा सकता । इसलिये आप केवल यथार्थ स्वरूप में वस्तु के उपदेश देने के कारण आस हीं हैं ।) ॥ १२ ॥

हे जिनेन्द्र ! यह दुःषमा आरा का बुरा प्रभाव हीं हो सकता है, अथवा भवपरम्परा को बढ़ाने वाले कर्म का विपाक हीं

कहा जा सकता है, कि ये लोग आपके शासन में कहे गये पदार्थों की उपेक्षा करते हैं, या अश्रद्धा करते हैं। (क्यों कि आप के शासन में श्रद्धा तथा उसका अनुसरण से हीं मुक्ति मिल सकती है।) ॥ १३ ॥

हे जिनेन्द्र ! कोई भी व्यक्ति हजारों वर्षों तक तप करे, अथवा युगयुगान्तरों तक योग की उपासना करे, फिर भी आपके बताये मार्ग को स्वीकार किये विना भव्य जीव भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते। (क्यों कि जिनेन्द्र के बताये मार्ग के सिवाय दूसरा कोई भी मुक्ति का मार्ग नहीं है।) ॥ १४ ॥

हे जिनेन्द्र ! दूसरे आगमों के विषय में, 'यह अप्रामकाणि व्यक्ति से रचित है, अल्पज्ञ व्यक्ति से रचित है, या राग द्वेषादि से रचित है' इस प्रकार की सम्भावनाओं के कारण बहुत से आक्षेपों का अवसर है। ऐसी स्थिति में वे आगम, परम आप्त ऐसे आप से बताये गये सन्मार्ग के उपदेश रूप आगम के विषय में आक्षेप की धृष्टता कैसे कर सकते हैं ?। (जो स्वयं दुष्ट है, वह दूसरे निर्दुष्ट वस्तु को दूषित करने में समर्थ नहीं हो सकता।) ॥ १५ ॥

हे जिनेन्द्र ! दूसरे तीर्थकरों ने सरल भाव से जो कुछ कहा, उसको उनके शिष्यों ने दूसरा ही रूप दे दिया। (जैसे- कणाद ने छौ, तथा गौतम ने सोलह पदार्थ गिनाये। उनके शिष्य नव्यनैयायिकों ने सात पदार्थ को हीं माना। शङ्कराचार्य ने शुद्धा-द्वैत का प्रतिपादन किया, किन्तु वाचस्पति मिश्र आदि ने विशिष्टा-

ऽद्वैत आदि का समर्थन किया । बुद्धदेवने 'सब अनित्य है' ऐसा सामान्य रूपसे कहा । उनके शिष्यों ने क्षणिकत्ववाद सर्वशून्यत्व-वाद आदि का समर्थन किया । इस प्रकार जहां गुरु शिष्य में हीं मतभेद है, उसको प्रमाण कैसे माना जा सकता है ? 1) बड़े हर्ष की बात है कि, आप के शासन में इस प्रकार का गुरु के प्रति शिष्य का विद्रोह नहीं हुआ । (क्यों कि इस शासन में गुरु का कथन यथार्थ है, इसलिये शिष्य को विद्रोह करने का अवसर हीं नहीं है ।) इसलिये आपके शासन के साम्राज्य का पराभव नहीं हो सकता । (जहां मतभेद है, वहीं पराजय का अवसर है । जहां मतैक्य है, वहां नहीं ।) ॥ १६ ॥

हे वीतराग ! परतीर्थिकों के कल्पित या स्वीकृत विलक्षण देवोंके विषय में — देहरहित = निर्गुणता-रूपहेतु से सर्वदामु कहोना, तथा शरीरी होने के कारण वेद आदिका उपदेश करना—ये परस्पर विरोधी (जो निर्गुण है वह शरीरी नहीं हो सकता, तथा जो अशरीरी है वह उपदेश नहीं दे सकता, जो शरीरी है वह मुक्त नहीं हो सकता, इस प्रकार एक व्यक्ति का शरीरी होना, तथा मुक्त होना और उपदेश देना परस्पर विरुद्ध है ।) ये दोनों बातें कैसे घटित हो सकती हैं ? । (विरुद्ध धर्म एकस्थान में नहीं रहते हैं, अन्यथा विरोध हीं नहीं हो सकता । इसलिये उक्तप्रकार से विरुद्ध धर्मों से युक्त कोई देव कल्पित हीं हो सकते हैं, वास्त-विक नहीं ।) ॥ १७ ॥

शुक्लध्यानादिरूपसमाधि से युक्त तथा उपकारी एवं अपकारी के विषय में समदर्शी हे स्वामी ! उक्त गुणविशिष्ट होने के कारण अवसर नहीं मिलने से जैसे रागद्वेषादि अधममनोवृत्तियां आपके जन्म या केवलज्ञान से पूर्व हीं दूसरे देवों का आश्रित हो गयीं । आपकी करुणा भी परोपकार के लिये हीं है, किन्तु रागमूलक नहीं । (क्यों कि आपमें रागादि का अभाव है । दूसरे देवों की करुणा तो भक्तों के ऊपर हीं होती है, इसलिये रागमूलक है । अतः निःस्वार्थ-दयालु तथा वीतराग होने के कारण आप आस हीं हैं,।) ॥ १८ ॥

हे भगवन् वीतराग ! अन्यतीर्थिकों के इष्ट देव जैसे तैसे संसारका सर्जन या संहार करें । (वास्तविक तो ऐसा नहीं हो सकता, क्यों कि संसार अनादि तथा अनन्त है ।) किन्तु भवपरस्परा के नाश करने में समर्थ ऐसा उपदेश तो केवल आपका हीं है । इस विषय में तो वे देव अत्यन्त हीं असमर्थ हैं । (जो सर्जन और संहार करने वाले हैं, वे मुक्ति का नहीं, किन्तु सर्जन और नाश का हीं उपदेश दे सकते हैं । मुक्ति का उपदेश तो आरम्भ से रहित देव हीं दे सकते हैं । जैसा कारण वैसा हीं कार्य होता है ।) ॥ १९ ॥

हे जिनेन्द्र ! पर्यङ्कासनस्थित मृदु और नम्र शरीर, नाक के अग्र भाग में स्थिर दृष्टि, इस प्रकार की आपकी योगमुद्रा भी दूसरे

देव नहीं सिख पाये हैं, तो दूसरे गुणों की बात ही क्या ? ।
 (आपका स्थूल गुण भी दूसरे देवों में नहीं है । तो श्रमसाध्य मुक्ति
 आदि के उपदेश करने का गुण उन देवों में कैसे हो सकता है ? ।
 इसलिये आप ही सर्वश्रेष्ठ देव हैं ।) ॥ २० ॥

हे जिनेन्द्र ! जिस में प्रतिपादित सम्यक्त्व के बल से आप
 जैसे तीर्थङ्करों के पारमार्थिक स्वरूप को जान पाता हूँ । (क्यों कि
 उसके लिये आगम के सिवाय दूसरा कोई साधन नहीं है ।) तथा
 जो कुवासना रूपी पाश का नाश करने वाला है । ऐसे आपके
 शासन को मेरा नमस्कार हो । (दूसरे शासन न तो सम्यक्त्व का
 प्रतिपादन करने वाले हैं, और न कुवासना का नाश करने
 वाले ही हैं । इसलिये वैसे शासन नमस्कार के योग्य
 नहीं हैं ।) ॥ २१ ॥

हे जिनेन्द्र ! मध्यस्थ रूप से परीक्षा करता हुआ, आप तथा
 परदेव-दोनों की दोनों बातें असाधारण हैं, ऐसा निश्चयपूर्वक
 समझाता हूँ । जैसे=आपका वस्तुओं का यथार्थ रूप से उपदेश, और
 दूसरे देवों का असत्पदार्थ = पदार्थ के अयथार्थ रूप के-प्रतिपादन
 करने का हठाग्रह । (ऐसे हठाग्रही दूसरे नहीं, तथा आपके जैसे
 यथार्थ उपदेश देने वाले भी दूसरे नहीं हैं ।) ॥ २२ ॥

हे जिनेन्द्र ! अनादि ऐसी कुवासना या अर्वाचीन विद्या के
 रहस्य के जानने वाले, किसी भी नियम के न मानने वाले=मर्यादा-

रहित, और वितण्डावादी ऐसे परतीर्थिकों से जिस प्रकार तिरस्कृत हो रहा हूँ। हे देव! उसके लिये आप जैसे वीतराग का किङ्कर मैं क्या कर सकता हूँ?। जैसे वीतराग अपने अपकारी के प्रति भी उपेक्षा रखते हैं। वैसे उनके किङ्कर भी अपमान करने वाले के प्रति उपेक्षा रखें, यही योग्य है, 'यथा राजा तथा प्रजाः' १) ॥ २३ ॥

हे जिनेन्द्र! जिसको जन्मजात वैरी सिंह मृग आदि भी वैरभाव को त्याग कर आश्रयण करते हैं। किन्तु अभव्य होवे के कारण जहां परतीर्थिकलोग नहीं पहुच पाते, ऐसे आपके समवरण या उपदेशस्थान का मैं आश्रय लेता हूँ। (क्यों कि आप का उपदेशस्थान भी रागद्वेष का नाश करने वाला है। दूसरे देवों का उपदेशस्थान तो रागद्वेष का बढ़ाने वाला ही है। व्यक्ति के महत्त्व से ही स्थान का महत्त्व होता है १) ॥२४॥

हे जिनेन्द्र! मद मान काम क्रोध लोभ और हर्ष के अधीन रहने वाले दूसरे देवों को अकारण हीं त्रिभुवन साम्राज्य या ऐश्वर्य का रोग लग गया है। (जो मद आदि से युक्त है, वह स्वयं पराधीन है, इसलिये उसका साम्राज्य नहीं हो सकता। बल्कि ऐसे व्यक्ति का साम्राज्य मद आदि का बढ़ानेवाला होने के कारण रोग जैसा हीं है। वास्तविक साम्राज्य तो आप जैसे वीतराग का हीं कहा जा सकता है १) ॥ २५ ॥

हे जिनेन्द्र ! परतीर्थिक लोग अपने गले पर ही कुल्हाड़ी चलाते हुए कुछ भी प्रलाप करें । (निर्दोष के ऊपर आक्षेप करना अपने गले पर कुल्हाड़ी चलाने जैसा ही है । क्यों कि अपने गले पर कुल्हाड़ी चलाने से जैसे अपनी ही मृत्यु होती है, वैसे ही निर्दोष की निन्दा करने से लोग स्वयं ही निन्दित होते हैं ।) किन्तु हे वीतराग ! बुद्धिमानों का आपके ऊपर केवल पक्षपात से ही अनुराग नहीं है , (किन्तु आपके विशिष्ट गुणों के कारण ही आपके ऊपर अनुराग है । इसलिये आपके अनुरागियों पर दूसरों का आरोप अकारण है ।) ।२६।

हे नाथ ! जो परीक्षक अपने को मध्यस्थ बताकर मणि और काच में समानता की बात करते हैं । वे वास्तव में ईर्ष्यालु के लक्षण को ही प्रकट करते हैं । यह निश्चित है । (ईर्ष्याद्वेष के बिना कोई भी मध्यस्थ परीक्षकव्यक्ति मणि और काच को समान नहीं बता सकता । इसी प्रकार आप जैसे गुणी वीतराग को अन्य राग-आदि से युक्त देवों के समान कहने वाले ईर्ष्यालु ही हैं । क्यों कि सराग और वीतराग, मणि और काच के जैसे कभी भी समान नहीं हो सकते ।) ॥ २७ ॥

मैं प्रतिपक्ष परतीर्थिकों के मित्रों तथा समर्थकों के सामने खूब गम्भीरता से यह घोषणा करता हूँ कि, वीतराग से बढ़कर दूसरे कोई देव नहीं हैं, (क्यों कि दूसरे देव वीतराग नहीं है ।) तथा स्याद्वाद के सिवाय दूसरे कोई भी दर्शन प्रामाणिक नहीं हैं ।

(क्यों कि दूसरे दर्शन सर्वज्ञमूलक नहीं हैं, इसलिये पदार्थ के एक अंश को ही जानने वाले हैं ।) ॥ २८ ॥

हे वीर ! श्रद्धा के कारण ही आपके विषय में हमारा अनुराग नहीं है, तथा केवल द्वेष से ही दूसरे देवों के विषय में हमारी अरुचि नहीं है । किन्तु साधक तथा बाधक प्रमाणों से विधि पूर्वक आसत्व की परीक्षा कर के ही हमलोग आप जैसे स्वामी का ही आश्रित हुए हैं । (परीक्षा करने से दूसरे देव आस सिद्ध नहीं होते । जो आस नहीं हैं, उनका आश्रय विवेकी जन कैसे कर सकते हैं ? ।) ॥ २९ ॥

हे जगदीश ! जो तमोगुणी (अज्ञानियों) के अगोचर (परोक्ष) ऐसे आपके स्वरूप को सरलता से प्रकट करती है, ऐसी, चन्द्र के किरणों के समान निर्मल और सांसारिकतापों के हरण करने के कारण शीतल, निर्दोष एवं प्रामाणिक आपकी वाणी का ही हमलोग पूजन करते हैं, (आदर करते हैं, या प्रणाम करते हैं । दूसरे देवों की वाणी ऐसी नहीं है, इसलिये विवेकी लोग उसका आदर नहीं कर सकते ।) ॥ ३० ॥

हे भगवन् ! जिस किसी भी समय में जिस किसी भी रूपसे जिस किसी भी नाम से जो कोई भी हों, यदि वह वीतराग हैं तो आप ही हो । आपको मेरा नमस्कार हो । (गुण की पूजा होती है, काल नाम या रूप की नहीं, इसलिये व्यक्तिविशेष

पर नहीं किन्तु वीतरागता आदि गुणों पर हीं मेरा अनु-
राग है ।) ॥ ३१ ॥

हे जिनवर ! आपके आसता का समर्थन रूप इस स्तुति को-कोई
श्रद्धा का हीं उद्धार समझें, या स्वभाव से हीं परिनन्दक जडबुद्धि लोग
परनिन्दारूप समझें । (क्यों कि जिसकी जैसी प्रकृति तथा बुद्धि
होती है, वह उसके अनुसार हीं किसी बात को समझता है ।)
किन्तु जो मध्यस्थ एवं विवेकी हैं, और परीक्षा करके किसी भी
वस्तु के सार को ग्रहण करने में समर्थ हैं, उनके लिय तो स्तुति के
नाम से कही गयी धर्ममय ये बातें तत्त्व का प्रदर्शक हीं हैं ।
(इस स्तुति के पाठ से धर्म तथा तत्त्वज्ञान दोनों हीं होते हैं, यह-
केवल श्रद्धा या परनिन्दा के उद्देश्य से कही गई बातें नहीं है,
किन्तु इसका उद्देश्य धर्म और तत्त्वज्ञान हीं है । इस विषय में
दूसरे प्रकार का अभिप्राय प्रकट करना खेद की हीं बात
होगी ।) ॥ ३२ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिताऽपोगव्यवच्छेद-
द्वात्रिंशिकास्तुतेः श्रीतपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रभृत्यनेक-
तीर्थोद्धारकबालब्रह्मचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कारसमय-
ज्ञशान्तमूर्त्त्याचार्यश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वरपट्टधरसिद्धान्तमहोधधिप्राकृत-
विद्विशारदाऽऽचार्यवर्यश्रीकस्तूरसूरीश्वरशिष्यश्रीकीर्तिकन्द्रविजयगणिविर-
चितः कीर्तिकलाख्यो हिन्दीभषानुवादः समाप्तः ॥

अहम्

॥ श्रीविजयनेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्योनमः ॥

॥ अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिः ॥

॥ कीर्तिकलाख्यो हिन्दीभाषानुवादः ॥

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य महाराज जिनेश्वर हीं
आप्त हैं, इस अभिप्राय से तीर्थङ्कर महावीर भगवान की स्तुति का
प्रारम्भ करते हैं—

जो केवलज्ञान नाम के अनन्तज्ञान से युक्त, वीतराग, तथा
जिनका स्याद्वाद नाम का सिद्धान्त तीनों काल में सत्य है, और
जो देवों के भी पूजनीय हैं, ऐसे आप्तों में मुख्य और स्वयं सिद्धज्ञा-
नवाले श्री वर्धमान जिन की स्तुति का मैं यत्न करता हूँ । (जो
ज्ञानी हैं, वही निर्दोष भी हो सकते हैं, उनका ही सिद्धान्त तीनों
काल में सत्य हो सकता है । किन्तु अल्पमति तथा रागद्वेष से युक्त
व्यक्तियों का नहीं । इसलिये देव भी उनकी हीं पूजा करते हैं ।
और उनको हीं आप्तों में मुख्य कहा जा सकता है । एवं स्वयं-
सिद्धज्ञान वाले हीं उक्तगुणों से युक्त हो सकते हैं, शिक्षा से वैसा

ज्ञान नहीं हो सकता, न उक्त गुण हीं प्राप्त हो सकते हैं । इसलिये उस परमात्मा की हीं स्तुति के लिये यत्न करना इष्ट है ।) ॥ १ ॥

हे नाथ ! मैं आपके दूसरे गुणों की स्तुति के लिये भी बहुत उत्सुक हूँ । परन्तु पदार्थ की परीक्षा में सविशेष प्रवृत्ति होने के कारण, आपके यथार्थरूप से वस्तुओं के प्रतिपादन करनेवाले सिद्धान्तरूप गुण हीं मेरी स्तुति का लक्ष्य है । (आपके गुणों की स्तुति तो इच्छा रहने पर भी अशक्य है । क्यों कि उसके लिये अपेक्षित बुद्धि प्रतिभा आदि सामग्री पर्याप्त नहीं हैं । ऐसी स्थिति में अपनी शक्ति के आनुसार मैं अपने प्रिय विषय में हीं उद्योग करता हूँ । इस प्रकार के उद्योग में आंशिक भी सफलता मिलती हीं है ।) ॥ २ ॥

हे जिनेश्वर ! गुणों में दोष का आरोप करने की धारणा वाले ये अन्य तीर्थिक लोग आप को स्वामी नहीं मानें । (इसके लिये कुछ कहना नहीं है । क्यों कि उक्तधारणा को छोड़े विना गुणवान को कोई कैसे स्वामी मान सकता है ? । जो गुणों को समझता है, वही गुणी को स्वामी मानता है ।) फिरभी जरा आखें मूंदकर स्थिर चित्त से सच्ची युक्तियों का या सच्चे सिद्धान्त मार्गों का तो विचार अवश्य हीं करें । (विना विचारे दोष का आरोप करनेवाले गुण से वञ्चित हीं हते हैं । यदि वे लोग स्थिर चित्त से विचार करें तो उनको अपनी धारण बदलनी होगी, और तब

आपको अवश्य हीं स्वामी मानेंगे । जो विचार नहीं करते, वही आपको स्वामी नहीं मानते । इससे आपका कुछ बनता बिगड़ता नहीं, किन्तु वे हीं लोग सत्य से वञ्चित रहते हैं । इसलिये इस प्रकार का विचार उनके हीं हित में है ।) ॥ ३ ॥

घट आदि पदार्थ स्वयं ही, अनुवृत्ति = घट घट इत्यादि प्रकार के समान ज्ञान तथा व्यक्तिवृत्ति = घट पट से भिन्न है इस प्रकार का भेदप्रकाशक विशेष ज्ञान,—इन दोनों ही ज्ञानों का विषय होते हैं । अर्थात् घटादि पदार्थ सामान्य तथा विशेष दोनों स्वभाव के होते हैं । यदि एकान्तरूपसे सामान्य और विशेष भिन्न होते तो सामान्यविशेष पदार्थ से अनभिज्ञ साधारण जन को भी घट को देखते हीं किसी की अपेक्षा किये विना, 'यह घट है पट नहीं' इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता । (नैयायिकों का कहना है कि—घट आदि पदार्थों में एकप्रकार की समानता है; जैसे एक घट दूसरे घट से समान होता है । इस समानता या सामान्य को घटत्व आदि शब्दों से कहा जाता है । वह घटत्व घट से भिन्न है । क्यों कि घटत्व सब घटों में रहने वाला धर्म है, तथा घट व्यक्ति है । उस घटत्व के कारण हीं घट को देखने से 'यह घट है पट नहीं' एसा ज्ञान होता है । लेकिन इस प्रकार से स्थूल पदार्थों में हीं विशेष प्रकार से ज्ञान सम्भव है, किन्तु अमूर्त आकाश काल आदि में तथा परमाणुओं में

नहीं । क्यों कि आकाश आदि अखण्डपदार्थ हैं, इसलिये वहां कोई असाधारण सामान्य नहीं है, सामान्य अनेक व्यक्तियों में रहने वाला धर्म है । तथा एक घटको दूसरे घट से पृथक् रूप से जानने का साधन है—दोनों घटों के अवयवों का भिन्न होना । परमाणु निरवयव होते हैं । इसलिये उन द्रव्यों में एक विशेषनामका पदार्थ मानते हैं, जिसके बल से एक परमाणु का दूसरे परमाणु से आकाश आदि का काल आदि से भिन्न रूप में योगियों को ज्ञान होता है । इसलिये सामान्य और विशेष दोनों भिन्न पदार्थ हैं । उसका खण्डन करते हुये कहते हैं कि) कोईभी पदार्थ अपने से एकान्तभिन्न पदार्थ की अपेक्षा से जाने नहीं जाते । इसलिये जो वस्तुतः एक आश्रय होने के कारण कथञ्चित् अभिन्न हैं, उनको एकान्त भिन्न मानकर सामान्य और विशेष इन दोनों को पृथक् पदार्थ कहने वाले पदार्थ तत्त्व के जानने में अपटु हैं; इसलिये युक्तिविरुद्ध कहते हैं । (यदि सामान्य विशेष एकान्त भिन्न हों तो घट के देखनेपर, पहले घटत्व का ज्ञान होगा, पीछे यह घट है पट नहीं इस प्रकार का ज्ञान होगा । ऐसी स्थिति में क्रम से तथा विलम्ब से ही किसी भी वस्तु का ज्ञान हो सकता है । लेकिन यह कहीं भी किसी को अनुभूत नहीं है । तथा घट से एकान्त भिन्न घटत्व यदि उक्तज्ञान का कारण माना जाय तो पट को भी उक्तज्ञान का कारण क्यों न माना जाय ? । घटत्व तथा पट में घट से

भिन्नता तो समान हीं है । इसलिये जिनागम के अनुसार घट को हीं सामान्य तथा विशेष रूप मानना चाहिये । सामान्य और विशेष दोनों विरुद्ध धर्म एक घट में नहीं रह सकते, ऐसा कहना भी संगत नहीं । क्यों कि घट के देखने से सामान्य और विशेष दोनों की प्रतीति होती है, इसलिये दोनों में विरोध नहीं माना जासकता ।) ॥ ४ ॥

(सामान्य नित्य है, विशेष अनित्य है, इसलिये विरोध होने के कारण एक हीं पदार्थ उभय स्वभाव का नहीं हो सकता— ऐसा कहना असङ्गत है । क्यों कि) दीप से लेकर आकाश तक सब पदार्थ समान स्वभाव वाले हैं । दीप एकान्त अनित्य नहीं है, दीपके अणुओं के प्रकाशगुण का नाश होता है, तथा अन्धकाररूप गुण उत्पन्न होता है, किन्तु दीपके अणु नष्ट नहीं होते, इसलिये पर्याय की अपेक्षा से कोई भी पदार्थ अनित्य कहाजाता है, तथा द्रव्य की अपेक्षा से वही पदार्थ नित्य भी है । आकाश भी द्रव्य की अपेक्षा से हीं नित्य है, अवगाह रूप पर्याय तो उत्पन्न और नष्ट होते हीं रहते हैं, इसलिये पर्याय की अपेक्षा से आकाश भी अनित्य है, इस प्रकार पदार्थमात्र नित्य और अनित्य होने के कारण सम स्वभाव हैं । (उत्पादव्यय-ध्रौव्य स्वभाव हैं ।) इसलिये पदार्थ स्याद्वाद के लक्षण से युक्त हैं । (स्यात्पद से युक्त होकर हीं कोई भी पद किसी भी पदार्थ का प्रतिपादनकर सकता है । जैसे उपरोक्त युक्ति के अनुसार किसी भी

पदार्थ को स्यान्नित्य हीं कह सकते हैं, 'नित्य हीं है' ऐसा नहीं कह सकते)। हे जिनेन्द्र ! उक्तयुक्ति से पदार्थों का समस्वभाव प्रमाणित होने के कारण, आपके अनेकान्तवाद के विरोधियों का-आकाशादि नित्य हीं हैं, दीप आदि अनित्य हीं हैं, इस प्रकार का प्रतिपादन प्रलाप (अनर्थक या युक्ति रहित) हीं है ॥ ५ ॥

“ यह पञ्च महाभूत प्रपञ्च सावयव होनेके कारण कार्य है, (क्यों कि नित्य आकाशादि पदार्थ निरवयव हैं ।) कार्य कर्त्ता के विना नहीं हो सकता, इसलिये जगत्कर्त्ता ईश्वर है । वह एक हीं है । (क्यों कि एककार्य के अनेक कर्त्ता मानने से कार्य में एकरूपता तथा नियमितता नहीं रह सकती ।) तथा वह व्यापक और सर्वज्ञ है, (इसलिये वह सर्व देश काल में सब कार्य कर सकता है ।) वह स्वतन्त्र है । (इसलिये किसी की इच्छा के आभाव में कार्य के रुकने की सम्भावना नहीं है ।) तथा वह नित्य है । (अन्यथा उसका जो जनक होगा, उसका भी कोई जनक होगा, इस प्रकार अनवस्था हो जायगी ।) हे जिनेन्द्र ! कदाग्रह से किये जाने वाले ये सब कुतर्क उनके हैं, जिनका उपदेशक आप नहीं । (आपके उपदेश (सिद्धान्त) को जानने वाले ऐसे कुतर्क नहीं कर सकते । क्यों कि परमाणु आकाश जीव आदि पदार्थों को सभी नित्य मानते हैं । शरीर आदि कार्य का कारण कर्म हीं है । ऐसी स्थिति में ईश्वर को कर्त्ता मानने की कोई

आवश्यकता नहीं । ईश्वर के अप्रमाणित होने से दूसरी बातें स्वयं ही निर्मूल हो जाती हैं । इसलिये जगत भी नित्या-नित्य है, एकान्त अनित्य या एकान्त नित्य नहीं, यह सिद्ध हो जाता है ।) ॥ ६ ॥

यदि सामान्य विशेष को एकान्त भिन्न माना जाय, तो घट धर्मी है, घटत्व धर्म है, इस प्रकार का धर्मधर्मिभाव नहीं हो सकता । (अन्यथा घट पट में भी धर्मधर्मिभाव की आपत्ति होगी ।) घटादि के देखने पर घट तथा घटत्व इन दो ही भावों का भान होता है, समवाय आदि सम्बन्ध का भान नहीं होता । इसलिये घट घटत्वादि में समवायादि सम्बन्ध के कारण धर्मधर्मिभाव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । क्यों कि दोनों में सम्बन्ध ही नहीं है, अन्यथा उसका भी भान होता । (‘घट में घटत्व है’ इस प्रकार के व्यवहार के बल से दोनों में सम्बन्ध की सिद्धि होती है, ऐसा भी नहीं कह सकते । क्यों कि इस प्रकार का व्यवहार सम-वायादि सम्बन्ध में भी है, जैसे ‘घट में समवाय है’ ऐसा व्यवहार होता है । इसलिये घट और समवाय में भी सम्बन्ध मानना पड़ेगा । ऐसी स्थिति में अनवस्था हो जायगी ।) घट और सम-वाय का सम्बन्ध स्वरूपात्मक होनेके कारण गौण है, इसलिये उसका सम्बन्धशब्द से व्यवहार नहीं होता है--ऐसा कहना भी उचित नहीं । क्यों कि सम्बन्ध के विषय में गौणमुख्य का भेद नहीं माना

गया है। जैसे ब्रह्मण का पुत्र गौणब्राह्मण नहीं होता, वैसे ही सम्बन्ध का भी सम्बन्ध गौण नहीं माना जा सकता। तथा समवायादि-सम्बन्धों से अनभिज्ञ साधारण जनों को सम्बन्ध के बिना ही धर्म-धर्मी आदि की प्रतीति होती है। इसलिये दूसरे को भी धर्मधर्मी की प्रतीति के लिये सम्बन्ध अनावश्यक है। (इसलिये धर्म-धर्मी व्यवहार के लिये सामान्य विशेष में कथञ्चित् भेदा-भेद मानना ही युक्तिसंगत है। एकाश्रय होने से कथञ्चित् अभेद, तथा सामान्य विशेष इस प्रकार पृथक् व्यवहार होने के कारण कथञ्चित् भेद अनुभव सिद्ध है। इसलिये पदार्थमात्र सामान्यविशेष नित्यानित्यादि-स्वरूप हैं, यह सिद्धान्त है।) ॥ ७॥

हे जिनेन्द्र ! आप के विरोधियों ने—सत्पदार्थ में भी क्वचित् ही सत्ता है, आत्मा का चैतन्य शरीररूप उपाधिजनित तथा भिन्न है, मुक्ति ज्ञानमय और आनन्दमय नहीं है। (क्यों कि आत्मा व्यापक है। यदि चैतन्य को शरीर रूप उपाधिकृत नहीं माना जाय, तो घट आदि में भी आत्मा का सम्बन्ध होने के कारण चैतन्य मानना पड़ेगा। इसलिए चैतन्य औपाधिक ही है, तथा आत्मा से भिन्न है। मुक्त अवस्था में शरीर आदि उपाधि नहीं रहती है। इसलिये कारण के अभाव होने से कार्यरूप चैतन्य का भी अभाव हो जाता है, इसलिये आनन्द भी नहीं है। क्यों कि चैतन्य के बिना आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। अतः मुक्त अवस्था में आनन्द

की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं ।) यह सब सूत्र बहुत उत्तम बनाये हैं । (यह उपहास वाक्य है, इसलिये ' उक्तकथन अत्यन्त अप्रमाण है ' ऐसा तात्पर्य है । नैयायिक लोग द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय ये छौ भाव, तथा सातमा अभाव पदार्थ मानते हैं । उस में आदि के तीनों पदर्थों में रहनेवाला सत्ता नाम का महासामान्य मानते हैं । सत्ता को शेष पदार्थों में नहीं मानते । यह अयुक्त है । क्यों कि सत् का भाव ही सत्ता है । वह यदि सत्पदार्थ में नहीं रहे तो उसको सत्ता ही नहीं कह सकते । जो पदार्थ जहाँ नहीं रहे, उसको उसका भाव नहीं कहा जा सकता । इसलिये सत् पदार्थों में अमुक में सत्ता है, अमुक में नहीं, ऐसा कहना युक्ति-विरुद्ध है । ॥ ८ ॥

(आत्मा को व्यापक मानने से ही चैतन्य को औपाधिक मानना पड़ता है, तथा मुक्तजीव को ज्ञान और आनन्द रहित मानना पड़ता है । किन्तु आत्मा व्यापक नहीं है । क्यों कि) जिस पदार्थ का कार्य जिस देश में देखाजाता है, उस की स्थिति उस देश में ही मानी जाती है । जैसे घड़ा जलसंग्रहरूप कार्य घर में करता हो तो घड़ा बाहर में नहीं रहता । इस विषय में सभी एक मत हैं । (क्यों कि कार्य के बिना भी यदि वस्तु की सत्ता का स्वीकार किया जाय, तो आकाश कुसुम की सत्ता क्यों न मानी जाय ? । आत्मा का चैतन्य आदि कार्य शरीर में ही उपलब्ध हैं, इसलिये आत्मा शरीर

मात्र में ही रहने वाली है, अन्यत्र नहीं । यह युक्तिसिद्ध बात है ।) फिरभी अयथार्थ ऐसे एकान्तवाद का स्वीकार करने के कारण नष्टबुद्धिवाले अन्यतीर्थिक लोग आत्मा को देह से बाहर भी रहने वाली (व्यापक) कहते हैं । युक्ति के अभाव के कारण आत्मा व्यापक नहीं । इसलिये चैतन्य को औपाधिक मानना भी आवश्यक नहीं है । किन्तु चैतन्य आत्मा का स्वभाव है । इसलिये मुक्ति ज्ञानमय तथा आनन्दमय है । आत्मा के व्यापक सिद्ध नहीं होने से, व्यापकत्वमूलक सभी बातें मूल के अभाव में शाखा के जैसे ही अपने आप असत् होजाती हैं ।) ॥ ९ ॥

हे जिनेश्वर ! लोग स्वयं ही वितण्डा (अपने पक्ष की चिन्ता किये बिना ही परपक्ष के खण्डन करने) में पण्डित होने के कारण बोलने को सदा उत्सुक तथा विवाद में अभिरुचि वाले होते हैं । फिरभी प्रतिवादी के पक्ष का खण्डन करने के लिये वैसे लोगों को माया (छल, जाति आदि निग्रह स्थानों) का उपदेश देने से, ऐसा लगता है कि अन्यतीर्थिकों के मुनि (गुरु) विरक्त हो गये हैं=प्रतिवादी के पक्ष को सत् तर्कों से खण्डन करने में असमर्थ होने के कारण चिढ़ गये हैं । अन्यथा अपने अनुयायियों को ' छल आदि के द्वारा परपक्ष का खण्डन कैसे कियाजाय ' इस प्रकार का उपदेश क्यों देते ?) अथवा छल आदि का उपदेश करने वाले ये मुनि अद्भुत (दूसरे विरक्तों की अपेक्षा से नवीन) विरक्त=निस्पृह हैं । या (जो निस्पृह है,

वह दूसरे को छल करना कैसे सिखा सकता है ?) इसलिये छल का उपदेश करने वाला विरक्त है, यह आश्चर्य है। (गौतम मुनि ने छल आदि का प्रतिपादन किया है, इसके लिये यह कटाक्ष किया गया है।) ॥ १० ॥

हे जिनेश्वर ! जो लोग यज्ञ में की गयी हिंसा को वेदादि-शास्त्रविहित होने के कारण धर्म का हेतु मानते हैं, वह युक्त नहीं। (क्योंकि वेद में सामान्य रूप से हिंसामात्र का निषेध करनेवाला वाक्य विद्यमान है। यदि ऐसा कहा जाय कि सामान्य का विशेषविधि अपवाद होता है। इसलिये सामान्य रूप से हिंसा को पापहेतु बताने वाले वेद के हिंसानिषेध वाक्य का यज्ञ में हिंसा का विधानकरनेवाला वेदवाक्य अपवाद है, इस लिये यज्ञ में की गयी हिंसा धर्म का हेतु है, तो यह बात युक्तिसंगत नहीं। क्यों कि) अन्य विषय के सामान्य वाक्य का अन्य विषय का विशेष वाक्य अपवाद नहीं हो सकता। (एक विषय में ही सामान्य और विशेष वाक्य हों, तो सामान्य का विशेष अपवाद होता है। यहां तो हिंसा पाप का हेतु है, इस विषय में हिंसा का निषेधक सामान्य वाक्य है। तथा यज्ञ में हिंसा को धर्महेतु बताने के लिये विशेष वाक्य है। इसलिये उन दोनों वाक्यों में सामान्यविशेषभाव नहीं माना जा सकता।) इसलिये अन्यतीर्थिकों (जैमिनि के अनुयायियों) का यह (यज्ञ में हिंसा धर्म का हेतु है) विचार

अपने पुत्र को मारकर राज्यप्राप्ति की इच्छा के समान है । (जैसे पुत्र के वध से राज्य मिलने पर भी पुत्रमरण का शोक होता ही है, वैसे ही यज्ञ में की गयी हिंसा से काम्य फल के मिलने पर भी हिंसा का दोष लगता ही है । जो पशु पुत्र के जैसे पालनीय हैं, उनका अपनी कामना की सिद्धि के लिये वध करना पुत्र का वध करना ही है । इसलिये हिंसा सर्वथा त्याज्य है, वह धर्म का हेतु नहीं हो सकता ।) ॥ ११ ॥

हे जिनेन्द्र ! ज्ञान (दीप के समान) स्व तथा पर पदार्थ को प्रकाशित करते हुए ही प्रकाशित होता है । प्रकाशक को स्व-प्रकाश के लिये किसी दूसरे प्रकाशक की अपेक्षा नहीं रहती । (प्रकाशक प्रकाश रूप से स्वयं ही प्रकाशित होता है । दीप को जानने के लिये दूसरे दीप की आवश्यकता नहीं होती) । यदि पदार्थ का प्रकाशक ज्ञान को, तथा उस ज्ञान का प्रकाशक किसी दूसरे ज्ञान को माना जाय, तो पदार्थ का प्रकाश असम्भव हो जायगा । (क्योंकि एक ज्ञान के प्रकाश के लिये दूसरे ज्ञान की, उसके प्रकाश के लिये तीसरे ज्ञान की, इस प्रकार परम्परा बढ़ती ही जायगी, इस लिये ज्ञान का प्रकाश नहीं हो सकेगा । तो ज्ञान के प्रकाशित हुए बिना अर्थका प्रकाशन कैसे होगा ? ।) 'फिर भी जैसे तलवार अपने आप को काट नहीं सकता, वैसे ही ज्ञान स्वको प्रकाशित नहीं कर सकता' इस प्रकार के तर्क उपस्थित करने वाले प्रतिवादी

के डर से अन्यतीर्थिकों (गौतम, कणाद, जैमिनि) ने ज्ञान को परप्रकाश्य मान लिया है = स्वप्रकाश नहीं माना है । (वे लोग पदार्थ के तत्त्व को नहीं जानते हैं, इसलिये डरते हैं । ज्ञानी को डर नहीं होता । तथा यहां डरने की कोई बात भी नहीं है । ज्ञान स्व को प्रकाशित नहीं करता, किन्तु वह दीप के जैसे प्रकाश-स्वभाव है । इसलिये तलवार का दृष्टान्त ज्ञान के विषय में संगत नहीं । तथा ज्ञान स्वप्रकाश है यह बात युक्तिसिद्ध होने पर भी उसको स्वप्रकाश नहीं मानने में भय के सिवाय दूसरा क्या कारण हो सकता है ? । इस प्रकार का उपहास भी यहां ध्वनित होता है ।) ॥ १२ ॥

(जो कोई (वेदान्ती लोग) ऐसा मानते हैं कि—‘ब्रह्म हीं एक सत् है, जगत् मिथ्या है । रस्सी में सर्प के जैसे ब्रह्म में माया=अविद्या से जगत् का प्रतिभास होता है ।’ यह बात युक्ति विरुद्ध है । क्यों कि-) हे जिनेन्द्र ! माया यदि-सत् है, तो माया और ब्रह्म दो तत्त्व हो जाते हैं । (इसलिये ‘एक ब्रह्म हीं सत् है’ ऐसा कथन असिद्ध हो जाता है ।) यदि माया को असत् माना जाय, तो जगत् का प्रतिभास नहीं हो सकता । (जो स्वयं असत् हैं वह दूसरे का प्रतिभासक नहीं हो सकता । कोई भी कार्य सत् से हीं होता है, असत् दीप घट आदि पदार्थ का प्रकाशन नहीं करता ।) यदि माया को जगत् का प्रतिभासक माना

जाय, तो उसको सत् मानना हीं पडेगा । माता को बन्ध्या नहीं कहा जा सकता । उसी प्रकार असत् माया को जगत् का प्रतिभासक नहीं माना जा सकता । जैसे बन्ध्या को माता नहीं कहा जा सकता । कार्य हीं सत् का लक्षण है । यदि माया कार्य करती है, तो वह अवश्य हीं सत् है । यदि माया असत् है, तो वह कार्य नहीं करेगी । ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् का अपलाप नहीं हो सकता । इसलिये 'ब्रह्म हीं एक सत् है' यह सिद्धान्त युक्ति विरुद्ध है ॥ १३ ॥

(सामान्य एक है, विशेष अनेक हैं । इसलिये पदार्थ सामान्यविशेषात्मक नहीं हो सकते । इस प्रकार का तर्क युक्ति संगत नहीं । क्यों कि-) घटादि पदार्थ सामान्य रूप से (सङ्ग्रह-नय के अभिप्राय से) एक=कथञ्चित् अभिन्न हीं हैं, तथा विशेष रूप से (व्यवहार नय के अभिप्राय से) कथञ्चित् भिन्न हीं हैं । पदार्थों में व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्तिभेद की प्रतीति होती है । सामान्यदृष्टि से पदार्थों में भेद की प्रतीति नहीं होती है । जो एक घट का सामान्य है, वही दूसरे घट का भी सामान्य है । अन्यथा एक घट के देखने के बाद दूसरे घट के देखने पर अपने आप 'यह घट है' ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता । हाँ ; व्यक्ति की अपेक्षा से सामान्य को भी कथञ्चित् अनेक मानते हैं । इस प्रकार सामान्य और विशेष दोनो हीं अपेक्षाभेद से एक और अनेक हैं । ऐसी स्थिति में

पदार्थ को सामान्यविशेषात्मक होने में कोई बाधा नहीं है ।) इस प्रकार वाचक शब्द भी सामान्यविशेषात्मक हैं । हे जिनेन्द्र ! इस प्रकार वाचक शब्दों तथा वाच्य पदार्थों के उक्तयुक्ति बल से सामान्य विशेष रूप सिद्ध होने पर भी, वाचक तथा वाच्यों में किसी को सामान्य हीं तथा किसी को विशेष रूप हीं प्रतिपादन करना परतीर्थिकों की युक्ति के अन्वेषण की शिथिलता को हीं सूचित करता है । (परतीर्थिक लोग युक्ति की कल्पना में निपुण नहीं हैं, इसलिये पदार्थ के सूक्ष्मतत्त्व को प्राप्त करने में सफल नहीं होते ।) ॥ १४ ॥

हे जिनेन्द्र ! कोई जड़ परतीर्थिक (साङ्ख्यान्यायी) कितने हीं विरुद्ध विषयों का प्रतिपादन करते हैं । जैसे=चैतन्य पुरुष का गुण है, किन्तु वह पदार्थ का परिच्छेदक नहीं । (क्यों कि उसको पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है ।) बुद्धि प्रकृति का विकार है, इसलिये जड़ है । (क्यों कि प्रकृति जड़ है तो उसका परिणाम चेतन कैसे होगा ? किन्तु बुद्धि उभयमुख दर्पण के समान निर्मल है, उसमें एक तरफ से चैतन्य का दूसरी तरफ से पदार्थ का प्रतिबिम्ब पडता है, इसलिये बुद्धि चेतन जैसा प्रतिभासित होती है, अर्थात् पदार्थ का बुद्धि द्वारा भान होता है । प्रकृति से बुद्धि, उस से अहङ्कार, उससे पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, तथा शब्द आदि पञ्चतन्मात्रा की उत्पत्ति होती है । आकाश आदि

पञ्च महाभूत शब्द आदि पञ्चतन्मात्रा से उत्पन्न हुए हैं । पुरुष चेतन है, किन्तु निर्लेप है, क्योंकि बुद्धि को ही पदार्थ के साथ सम्बन्ध है । पुरुष को 'यह बुद्धि का सुख दुःख आदि धर्म है, मेरा नहीं' इस प्रकार का विवेक नहीं होना ही उसका बन्ध है, तथा उस विवेक का होना ही मोक्ष है ।) वस्तुतः पुरुष का बन्ध मोक्ष नहीं होता है । (प्रकृति ही नाना पुरुष से सम्बद्ध होनेपर बन्ध को प्राप्त होती है, तथा उस सम्बन्ध को छोड़ने पर मुक्त होती है । पुरुष में बन्ध मोक्ष का व्यवहार कल्पित ही है ।) यह सब विरुद्ध इस प्रकार है—जैसे=चैतन्य का अर्थ है विषय का ग्रहण करना । यदि वह विषयों का ग्रहण नहीं करता है, तो उसको चैतन्य ही नहीं कहसकते । इसलिये चैतन्य है, किन्तु विषय का ग्रहण नहीं करता है, यह विरुद्ध है । बुद्धि चैतन्य का पर्यायवाचक शब्द है । इसलिये उसको जड़ कहना विरुद्ध है । आकाश आदि नित्य हैं, इस विषय में सब एकमत हैं । इसलिये आकाश आदि की उत्पत्ति का प्रतिपादन करना विरुद्ध है । प्रकृति से भेद का ग्रह नहीं होना ही बन्ध है, तो वह पुरुष को नहीं होगा, तो जड़ प्रकृति को कैसे होगा ? । यदि बन्ध पुरुष का है, तो मोक्ष भी उसका ही होगा । इसलिये पुरुष का बन्धमोक्ष नहीं है, यह विरुद्ध है । विरुद्ध प्रतिपादन करना जड़त्वा (अल्पबुद्धि) का लक्षण है ।) ॥ १५ ॥

हे जिनेन्द्र ! बौद्ध लोग प्रतिपादन करते हैं कि—बाह्य पदार्थ नहीं है । यदि बाह्य पदार्थों का स्वीकार किया जाय, तो जड़ होनेके कारण उनका प्रतिभास हीं नहीं होगा । इसलिये घट आदि आकार से प्रतिभासमान सब पदार्थ ज्ञान हीं हैं । परन्तु यदि ज्ञानाद्वैत माना जाय, तथा ज्ञान को क्षणिक माना जाय तो कार्य-कारण भाव की व्यवस्था नहीं रहेगी । क्यों कि — (एक काल में उत्पन्न होने वाले पदार्थों में कार्यकारणभाव नहीं माना जा सकता । पूर्व काल में रहने वाला कारण कहा जाता है, तथा उत्तर काल में होने वाला कार्य कहा जाता है ।) पूर्वापरकाल में उत्पन्न होने वाले पदार्थों में भी क्षणिक ज्ञानाद्वैत मानने से कार्यकारणभाव नहीं हो सकता, क्यों कि-कारण क्षणिक होने के कारण पूर्वकाल में हीं नष्ट होगया, तो उत्तर काल में कार्य कहाँ होगा ?, कारण हीं नहीं है । तथा ज्ञानाद्वैत मानने से पदार्थ का ज्ञान कैसे होगा ?, क्यों कि पदार्थ हीं नहीं हैं । एसी स्थिति में ज्ञान में ज्ञान हीं भासित होगा, पदार्थ नहीं । इसलिये बौद्धों का क्षणिकज्ञानवाद इन्द्रजालके जैसा निःसार है । ॥ १६ ॥

हेजिनेन्द्र ! आप के गुणों में दोष का आरोप करने वाले बौद्धों का शून्यवाद विलक्षण है ! । (युक्तिरहित होने के कारण उपहासास्पद है ।) क्यों कि जैसे परवादी प्रमाण के बिना अपने पक्ष को सिद्ध नहीं कर सकते, वैसे शून्यवादी भी प्रमाण के बिना

शून्यवाद का समर्थन नहीं कर सकते । यदि शून्यवादी प्रमाण का उपन्यास करेंगे तो सर्व शून्यवाद सिद्धान्त ही विरुद्ध हो जायगा । (क्यों कि प्रमाण ही सत् पदार्थ हो जायगा । इसलिये सर्वशून्यवाद का अपने आप खण्डन हो जायगा । असत्प्रमाण से तो किसी भी सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया जासकता । इसलिये शून्यवाद प्रमाण की विचारणा के बिना ही प्रवृत्त होने के कारण उपहासास्पन्न है ।) ॥ १७ ॥

हे जिनेन्द्र ! आप के प्रतिपक्षी बौद्ध कृतप्रणाश, अकृतकर्म-भोग, भवभङ्ग, मोक्षभङ्ग, स्मृतिभङ्ग आदि दोषों की उपेक्षा करके ' सर्व क्षणिक है ' ऐसा प्रतिपादन करते हुए महा साहसी (अत्यन्त अविचारित प्रवृत्ति करने वाले) हैं । यह आश्चर्य जनक है । (कोई भी विद्वान् अपने पक्ष में सम्भवित दोषों की उपेक्षा नहीं करता । किन्तु क्षणिकवादी ही ऐसे हैं, इसलिये नवीन होने के कारण यह बात आश्चर्यजनक है ।) क्षणिकत्व वाद में कृतप्रणाशादि दोषों का प्रतिपादन—यदि सब पदार्थों को क्षणिक माना जाय, तो कर्म भी क्षणिक ही होगा । ऐसी स्थिति में किये हुए कर्मों का फल दिये बिना ही तत्काल ही नाश हो जायगा, इसलिये कृत का-फल दिये बिना ही नाश रूप कृतप्रणाश दोष होता है । तथा कर्म का नाश हो जाने से होरहा भोग किये हुए कर्मों का नहीं कहा जा सकता, इसलिये अकृतकर्मभोग दोष होता है ! कर्म के नाश

होजाने से भव=परलोक का भङ्ग होजायगा । क्यों कि कृतकर्म का फल हीं भव है । यदि अकृतकर्म का फलभोग माना जाय तो मोक्ष का भङ्ग हो जायगा । अकृतकर्म का फलभोग हेतु के बिना होगा, इसलिये उसका निवारण नहीं हो सकता । तथा आत्मा ज्ञान आदि सब क्षणिक होने के कारण कोई भी बद्ध नहीं रहेगा, तो मोक्ष किस का होगा ? । तथा आत्मा के क्षणिक होने के कारण अनुभव करनेवाला तत्काल हीं नष्ट हो जायगा, तो स्मरण किस को होगा ? । क्यों कि जिसको अनुभव होता है उसको हीं स्मरण भी होता है । इसलिये क्षणिकत्वपक्ष में स्मृतिभङ्गदोष भी होता है ।) ॥ १८ ॥

(बौद्ध लोग कृतप्रणाशादिदोषों का उद्धार करते हुए कहते हैं कि—“पदार्थ मात्र क्षणिक हैं । किन्तु प्रत्येक पदार्थ की क्षणपरम्परा होती है, जिसको क्षणसन्तान कहते हैं । जैसे—घट प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट होजाता है, उसके समान ही दूसरा घटक्षण होता है, किन्तु यह क्षण अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिये उसकी उत्पत्ति या विनाश का प्रत्यक्ष नहीं होता है, ‘तथा पदार्थ स्थायी है’ ऐसी प्रतीति होती है । चूँकि घट की वासना उन क्षणों में रहती है, इसलिये घटक्षणसन्तान में एकत्व (अभेद) का आभास होता है, या उस घटक्षणसन्तान को एक मानते हैं । ऐसी स्थिति में कर्मक्षण का सन्तान भी एक है, तथा कर्मफलभोग से उस सन्तान का सर्वथा

नाश होजाता है, जिससे दूसरे सदृश क्षण उत्पन्न नहीं होते । इसलिये कृतकर्म का फलदिये विना हीं नाश नहीं सिद्ध होता । इस प्रकार कृतप्रणाश दोष के उद्धार से उक्तदोषमूलक भवभङ्गदोष अपने आप हीं हट जाता है । तथा कृतप्रणाशदोष नहीं रहने से अकृतकर्मभोग भी नहीं कहा जा सकता । तथा तन्मूलक मोक्षभङ्ग दोष का भी उद्धार होजाता है । स्मृतिभङ्गदोष भी नहीं है । क्यों कि आत्मक्षणसन्तान एक है, तथा पूर्वपूर्व अनुभवों की वासना उस क्षणसन्तान में रहती है । इसलिये स्मरण होता है । तथा जिस क्षणसन्तान को अनुभव हुआ है, उसको हीं स्मरण भी होगा ” । किन्तु यह समाधान युक्तियुक्त नहीं । क्यों कि—वासना तथा क्षणसन्तान में यदि अभेद माना जाय तो—वासना या क्षण सन्तान—दोनों में से कोई एक हीं रहा । अभिन्न वस्तु में द्वित्व-सङ्ख्या नहीं रह सकती । यदि दोनों में भेद माना जाय तो वासना भी क्षणिक होगी, उसके क्षणसन्तान में भी अभेद के लिये वासनान्तर की कल्पना करनी पड़ेगी । इसप्रकार अनवस्था हो जायगी । यदि भेद या अभेद दोनों में से कोई एक भी पक्ष नहीं मानाजाय, तो वैद्यों के मत में कोई तीसरा पक्ष है नहीं । इसलिये क्षणसन्तान तथा वासना दोनों ही अवस्तु हो जायंगे । इसलिये—) भेद, अभेद तथा अनुभव (दोनों में से एक भी नहीं) पक्ष में वासना तथा क्षणसन्तान यह दोनों सिद्ध नहीं होते । हे जिनेन्द्र !

उक्त कारण से बौद्ध लोगों को कथञ्चित् भेदाभेद रूप आपका सिद्धान्त ही मानना पड़ेगा । जैसे बड़े जहाज के स्तम्भपर बैठा पक्षी, जहाज के बीच समुद्र में पहुंचने पर, उस स्तम्भ पर से उड़ता है, किन्तु तट तक नहीं पहुंच सकने के कारण लौटकर फिर उसी स्तम्भ पर जाकर बैठता है । उसप्रकार ही अन्यतीर्थिकों को भी आपके सिद्धान्त से दूर जाने पर भी पदार्थ की सिद्धि के लिये कोई दृढतर्क नहीं प्राप्त होता है, इसलिये उनको आपके सिद्धान्त को ही अन्ततः मान्यता देनी चाहिये । (भेदाभेद पक्ष में वासना द्रव्यात्मक होनेके कारण नित्य हैं, क्षण पर्याय होनेके कारण अनित्य हैं । तथा द्रव्य की पर्याय के विना तथा पर्याय की द्रव्य के विना उपलब्धि न होने से दोनों में कथञ्चित् अभेद है । तथा द्रव्य और पर्याय रूप से कथञ्चित् भेद है । इस प्रकार पदार्थ को कथञ्चित्सामान्यविशेषनित्यानित्यभेदाभेद आदि अनेकधर्मात्मक माननेसे सर्वदोषों का समाधान हो जाता है ॥ १९ ॥

हे जिनेन्द्र ! अनुमान के विना दूसरे के अभिप्राय से अनभिज्ञ ऐसे नास्तिकों को तो (आप के सिद्धान्त के विरुद्ध) बोलने की भी योग्यता नहीं है । (नास्तिक लोग प्रत्यक्षमात्र को प्रमाण मानते हैं, अनुमान को नहीं । ऐसी स्थिति में वे दूसरों के अभिप्राय को जान नहीं सकते । क्यों कि अभिप्राय मनोवृत्ति है, तथा अरूपी है । इसलिये उसका प्रत्यक्ष हो नहीं सकता । तो

अनुमानप्रमाण को नहीं माननेवाले, दूसरों के अभिप्राय को नहीं जान सकते । तथा दूसरों के अभिप्राय को जाने विना प्रश्नोत्तररूप वाक्य का प्रयोग नहीं किया जा सकता । इसलिये नास्तिकों को बोलने की भी योग्यता नहीं है ।) चेष्टा आदि से दूसरे के अभिप्राय को जाना जा सकता है । किन्तु चेष्टा कहां ?, और प्रत्यक्षमात्र कहां ? । (चेष्टा से पराभिप्राय को जानना अनुमान ही है, प्रत्यक्ष नहीं । इसलिये चेष्टा से पराभिप्राय के ज्ञान का स्वीकार करने पर, प्रत्यक्षमात्र ही प्रमाण है, इस सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है ।) नास्तिकों का प्रमाद अत्यन्त खेद का विषय है । (अनुमान आदि प्रमाणों के-चेष्टा आदि से पराभिप्राय आदि के ज्ञान से-सिद्ध होने पर भी प्रत्यक्ष से अतिरिक्त प्रमाण को न मानने में प्रमाद के सिवाय दूसरा कारण नहीं । और इस प्रकार का प्रमाद तत्त्वज्ञान में दृढविघ्न होने के कारण अत्यन्त खेद का विषय है । उसका त्याग करना ही चाहिये । तब आप के सिद्धान्त की यथार्थता को वे भी स्वीकार करेंगे हीं) ॥ २० ॥

हे जिनेन्द्र ! प्रतिक्षण में प्रत्येक वस्तु के उत्पाद विनाश तथा स्थिरता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी जो आप के सिद्धान्त की उपेक्षा करता है, वह या तो पागल है; या उसको कोई पिशाच लग गया है । (अन्यथा स्वस्थचित्त बाला प्रत्यक्ष का अपलाप कैसे कर सकता है ? । घट उत्पन्न होता है, तथा नष्ट होता है । किन्तु जिस

द्रव्य से घट बनता है, वह द्रव्य तो रहता हीं है । इसलिये द्रव्य हीं सामान्य, तथा नित्य है । उत्पाद आदि पर्याय हीं विशेष तथा अनित्य हैं । द्रव्य तथा पर्याय दोनों का एक साथ हीं प्रत्यक्ष होता है, इसलिये दोनों कथञ्चित् अभिन्न हैं, तथा द्रव्य और पर्याय रूप से कथञ्चित् भिन्न है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है ।) ॥ २१ ॥

हे जिनेन्द्र ! वस्तु अनन्तधर्मात्मक हीं है, अन्यथा वस्तु की सत्ता का उपपादन नहीं हो सकता, इस प्रकारके आप से उपदिष्ट अनुमान आदि प्रमाण भी एकान्तवादीरूप मृगों को भयभीत करन के लिये सिंहनाद के समान हैं । (सिंहनाद से भयभीत होकर मृग जैसे भाग जाते हैं, वैसे एकान्तवादी भी उक्त प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों का खण्डन न कर सकने के कारण अपने पक्ष के खण्डन के भय से दूर भाग जाते हैं । वाद में भाग नहीं लेते । घट को एकान्त अनित्य मान लेने से प्रथम क्षण में ही उसका नाश मानना होगा, तो घट का प्रत्यक्ष नहीं होगा, इसलिये घटकी सत्ता लुप्त होजायगी । एकान्तनित्य मानने से भी, नित्यपदार्थों के सदा एकरूप होने के कारण उससे जलाहरणादिकार्य नहीं हो सकेगा । अन्यथा कार्यभेद से स्वभावभेद मानना हीं पड़ेगा । पदार्थ एक हीं स्वभाव से अनेककार्य नहीं कर सकता और प्रत्यक्ष दीखने वाले उत्पाद तथा विनाश का अपलाप होगा । तथा घट को एकान्त सत् मानने से, वह पटरूप में भी सत् होजायगा । तथा

एकान्त असत् मानने से घटरूप में भी असत् होजायगा । इसलिये घटादि पदार्थ को द्रव्यकी अपेक्षा से नित्य, पर्याय की अपेक्षा से अनित्य, स्वद्रव्य आदिकी अपेक्षा से सत्, परद्रव्य आदिकी अपेक्षा से असत्, इस प्रकार परस्पर सापेक्ष सत्त्व असत्त्व आदि अनन्तधर्मात्मक मानने से हीं घट की सत्ता सिद्ध होती है, अन्यथा नहीं ।) ॥ २२ ॥

(घट द्रव्य सत् है, घट उत्पन्न हुआ, घट नष्ट होगया, इस प्रकार एक एक धर्म का उल्लेख करके पदार्थ का प्रतिपादन होता है, अनेकधर्मों का उल्लेख करके नहीं । इसलिये वस्तु अनन्तधर्मात्मक नहीं है, यह कथन असंगत है । क्यों कि—) विवक्षावश संग्रहनय का आश्रयण कर द्रव्य तथा पर्याय में अभेद पक्ष में पदार्थ का पर्यायरहितरूप में (सामान्यरूप में) कथन होता है । जैसे पिण्ड, कपाल, घट इन प्रत्येक अवस्था में 'यह मिट्टी है' इस प्रकार कहा जाता है । तथा पर्याय (व्यावहार)नय की अपेक्षासे पर्यायों के भिन्न होने के कारण घट, कपाल, पिण्ड, इस प्रकार पृथक् पृथक् प्रतिपादन किया जाता है । इस प्रकार का प्रतिपादन विकलादेश (काल आदि से पदार्थ को भिन्न मानने के) पक्ष में होता है । तथा सकलादेश (काल आदि से अभेद का आरोप करने के) पक्ष में सप्तभङ्गात्मकवाक्य से अनन्तधर्मात्मक पदार्थ का प्रतिपादन होता है । इस प्रकार आदेशभेद से पदार्थ के प्रति-

पादन करने की रीति को सम्यग्ज्ञानी हीं जान सकते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टिवाले नहीं । हे जिनेन्द्र ! इस प्रकार पदार्थ के यथार्थ रूप में प्रतिपादन करने की रीति आपने हीं बतायी है । (दूसरे लोग पदार्थतत्त्व से अनभिज्ञ होनेके कारण हीं एकान्तवाद का प्रतिपादन करते हैं । काल आदि अभिन्न होनेके कारण पदार्थों को अभिन्न मानकर प्रतिपादन करना सकलादेश है । जैसे घट की सत्ता का जिस काल में प्रतिपादन किया जाता है, उस काल में शेष अनन्त पदार्थों की सत्ता भी रहती है, इसलिये काल एक होनेके कारण घट की सत्ता तथा शेष अनन्त पदार्थों की सत्ता में भी अभेद का आरोप होने से घटकी सत्ता का प्रतिपादन से शेष अनन्त पदार्थों की सत्ता का भी प्रतिपादन हो जाता है । इसलिये घट भी शेष अनन्त पदार्थों से अभिन्न रूप में प्रदिपादित होता है । तथा पदार्थ पररूप की अपेक्षा से असत् भी है, इसलिये पदार्थ सत् हीं हैं, ऐसा नहीं कहा जासकता । किन्तु कथञ्चित् शब्द के साथ पदार्थ के प्रतिपादन में सातप्रकार के वाक्यप्रयोग होते हैं । जैसे—घट कथञ्चित् सत् हीं है । घट कथञ्चित् असत् हीं है । घट कथञ्चित् सत् हीं है । कथञ्चित् असत् हीं है । इन तीनों वाक्यों में—प्रथम वाक्य में सत्त्वमात्र की विवक्षा है । किन्तु पदार्थ मात्र पररूप की अपेक्षा से असत् भी है । इसलिये सत् हीं है, ऐसा नहीं कहकर कथञ्चित् कहा गया है । ऐसे हीं दूसरे वाक्य में भी असत् की विवक्षा है । तीसरे में सत् की गौण भाव से,

तथा असत् की मुख्य भाव से, या असत् की गौण भाव से तथा सत् की मुख्य भावसे विवक्षा है । दोनों धर्मों को प्रधानभाव से प्रतिपादन करनेवाले शब्द नहीं होनेके कारण दोनों धर्मों के मुख्यभाव से विवक्षा करने पर पदार्थ अवक्तव्य है, किन्तु अवक्तव्यशब्द से उसका प्रतिपादन कथञ्चित् होजाता है । इसलिये 'कथञ्चित् अवक्तव्य है' इस प्रकार का चौथा वाक्य होता है । इस प्रकार सत् और अवक्तव्य इन दोनों धर्मों को एक साथ जोड़कर 'घट कथञ्चित् सत् कथञ्चित् अवक्तव्य हीं है ।' यह पांचमां वाक्य होता है । इसी प्रकार 'घट कथञ्चित् असत् कथञ्चित् अवक्तव्य हीं है', 'घट कथञ्चित् सत्, कथञ्चित् असत्, कथञ्चित् अवक्तव्य हीं है', इस प्रकार सात प्रकार के वाक्यप्रयोगों से किसी भी वस्तु का यथार्थरूप से प्रतिपादन होता है । इस प्रकार नित्यानित्यत्वादिधर्म का प्रतिपादन करने के लिये भी सप्तभङ्गात्मक वाक्यप्रयोग होता है । किसी भी पदार्थ में किसी भी धर्म का यथास्थितरूप में सप्तभङ्गवाक्य के बिना प्रतिपादन नहीं होसकता । नयवाक्य से सामान्यतः किसी एकधर्मात्मक पदार्थ का प्रतिपादन होता है । अनन्तधर्मात्मक पदार्थ का प्रतिपादन सकलादेश से उक्तसप्तभङ्गात्मक वाक्य के द्वारा हीं होता है । इस सप्तभङ्गात्मक वाक्य को हीं प्रमाणवाक्य कहते हैं । ॥ २३ ॥

(जो पदार्थ सत् है, वह असत् नहीं हो सकता, क्यों की सत् असत् दोनों विरुद्ध धर्म हैं, इस लिये एक पदार्थ में सत्त्व असत्त्व दोनों नहीं रह सकते । ऐसे नित्यत्व अनित्यत्व, सामान्य विशेष, वाच्यत्व अवाच्यत्व, भी एकपदार्थ में नहीं रह सकते । एसी स्थिति में पदार्थ अनन्तधर्मात्मक नहीं हो सकते, इस प्रकार का तर्क संगत नहीं । क्यों कि—) अपेक्षा भेद से पदार्थों में सत्त्व असत्त्व, वाच्यत्व अवाच्यत्व आदि धर्म विरुद्ध नहीं हैं । जैसे एक ही व्यक्ति में पिता की अपेक्षा से पुत्रत्व, तथा पुत्र की अपेक्षा से पितृत्व, दोनों धर्म रहते हैं । एक की अपेक्षा से ही पितृत्व तथा पुत्रत्व विरुद्ध धर्म हैं । उस प्रकार ही एक की अपेक्षा से ही सत्त्व असत्त्व आदि धर्म विरुद्ध हैं । घटादि पदार्थ स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से सत् हैं, तो वे स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से ही असत् नहीं हो सकते । जैसे कोई व्यक्ति पुत्र की अपेक्षा से ही पिता और पुत्र दोनों नहीं हो सकती । किन्तु अपेक्षाभेद से जैसे एक ही व्यक्ति पिता पुत्र दोनों है । वैसे ही घटादि पदार्थ स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से सत्, द्रव्य की अपेक्षा से नित्य, अनेक धर्मों को प्रधान रूप से एकसाथही विवक्षा करने से अवक्तव्य हैं । तथा परद्रव्यादि की अपेक्षा से असत् पर्याय की अपेक्षा से अनित्य तथा गुणप्रधान भाव से क्रमशः अनेकधर्मों की विवक्षा करने से वक्तव्य हैं । हे जिनेन्द्र ! इस प्रकार सदसदादिधर्मों में रहने वाले अविरोध को जाने बिना ही जड़मति परतीर्थिक लोग सदसदादि धर्मों के विरोध से डरकर ' पदार्थ सत् ही है, ' इस प्रकार एका-

न्तवाद को स्वीकार कर मिथ्यात्वग्रस्त होजाते हैं । इसलिये अशो गति को प्राप्त करते हैं । (मुक्ति सम्यग् ज्ञान से ही होती है । एकान्तवाद युक्तिविरुद्ध होने के कारण सम्यग् ज्ञान नहीं है । विरोध के कारण ही एकान्त का समर्थन किया जाता है । किन् वास्तव में विरोध सिद्ध ही नहीं होता । इसलिये एकान्तवाद कोई तर्क नहीं है, तथा तर्करहित सिद्धान्त मानना ही मिथ्यात्व है मिथ्यात्व से पतन ही होता है, मुक्ति नहीं । अन्यथा सब जी मुक्त ही हो जायंगे ।) ॥ २४ ॥

हे ज्ञानिश्रेष्ठ ! एक ही घटादि पदार्थ—“ कथञ्चित् (पर्याय की अपेक्षा से) अनित्य, कथञ्चित् (द्रव्य की अपेक्षा से) नित्य कथञ्चित् (अनुवृत्तिप्रत्ययविषय होने के कारण) सामान्यात्मक, कथञ्चित् (व्यावृत्तिप्रत्ययविषय होने के कारण) विशेषात्मक, कथञ्चित् (गुणप्रधान भाव से क्रमशः अनेकधर्मों की विवक्षा करने से वक्तव्य, कथञ्चित् (एकसाथ प्रधानभाव से अनेक धर्मों की विवक्षा करने से अवक्तव्य, कथञ्चित् (स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से) सत्, कथञ्चित् (परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से) असत् हैं) इस प्रकार की उक्ति (देशना वाणी) सर्वप्रकार से पदार्थ के तत्त्वज्ञानरूप अमृत के पान से हुई तृप्ति के सूचक पुनः पुन होने वाले उद्धार ही हैं । (आप को सर्वप्रकार से पदार्थ का तत्त्वज्ञान है । इसलिये आप की ही ऐसी यथार्थ उक्ति है । पूर्वा

की गयी परीक्षा से यह बात सिद्ध हो चुकी है । अन्यतीर्थिकों को पदार्थ का तत्त्व ज्ञान नहीं है, इसलिये ही वे एकान्त का प्रतिपादन करते हैं । जिसको पदार्थ का वास्तविक ज्ञान होगा, वह अनेकान्त का ही समर्थन करेगा । इस पद्य में स्याद्वाद के चार मूल भेदों का सङ्ग्रह किया गया है । कथञ्चित् भेद, कथञ्चित् अभेद रूप पाचवां भेद भी है । जिसका प्रतिपादन सप्तम पद्य में किया गया है । यह बात यहां स्मरण में रखना चाहिये । यहां पर संग्रह नहीं करने का कारण यह हो सकता है कि पदार्थ के नित्यानित्यादि स्वरूप सिद्ध होने पर ही नित्यानित्यत्वादि में भेदाभेदात्मकत्व का समर्थन हो सकता है, अन्यथा नहीं । इसलिये मूलभेद चार ही होते हैं । चारों भेदों में प्रत्येक में परस्पर भेदाभेद है । यह पक्ष पश्चात् तथा उन चारों भेदों के आश्रय से ही उपस्थित होता है, यह स्पष्ट है ।) ॥२५॥

(एकान्तवादियों को अनेकान्तवाद के विरुद्ध में बोलने का अवसर भी नहीं है । क्योंकि-) नित्य एकान्त पक्ष में जो दोष हैं, अनित्य एकान्त पक्ष में भी वह सब दोष समान ही हैं । हे जिनेन्द्र ! बल्पज्ञ होने के कारण आप के क्षुद्रशत्रु जैसे एकान्तवादी लोग मुन्दोपमुन्दन्याय से परस्पर हीं नष्ट होने वाले हैं । (नित्यवादी अनित्यवादी का तथा अनित्यवादी नित्यवादी का खण्डन करते हैं । इसलिये परस्पर खण्डन करने से स्वयं नष्ट हैं । ऐसी स्थितिमें अनेकान्तवाद का खण्डन करने की क्षमता एकान्तवादियों में कैसे होगी ? ।

अपने परस्पर के खण्डन में हीं उनकी शक्ति समाप्त है । इसलि अगत्या मध्यस्थ अनेकान्तवाद का आश्रय हीं उन लोगों को भी आश्रयक है ।) हे जिनेन्द्र ! उक्तकारण से आप का शासन अपराजे है । इसलिये सर्वोत्कृष्ट है । ॥ २६ ॥

हे जिनेन्द्र ! नित्य एकान्तवाद हीं अथवा अनित्य एकान्तवाद हीं, किसी भी एकान्तवाद में—सुख दुःख का भोग, पुण्यपाप बन्ध मोक्ष,—यह सब नहीं हो सकते । (यदि पदार्थ को एकान्त नित्य माना जाय, तो आत्मा एक स्वभाव की ही होगी । जो सदा एक स्वभाव है, उसको हीं नित्य कहते हैं । सुख दुःख दोनों विरुद्ध धर्म हैं । इसलिये एकस्वभाव से इनका भोग नहीं हो सकता । पदार्थ को एकान्त अनित्य मानने से भी यह दोष होता है । क्योंकि सुख दुःख दोनों का भोग विरोधी होने के कारण एक साथ नहीं हो सकता । क्रम से भी नहीं हो सकता । क्योंकि अनित्य पक्ष में पदार्थ उत्पन्न होते हीं नष्ट हो जायेंगे, तो सुख दुःख का भोग किसको होगा ? । तथा नित्य पदार्थ अक्रिय होगा, सक्रिय मानने से क्रियाभेद से स्वभावभेद हो जायगा, तो पदार्थ में नित्यत्व हीं नहीं रहेगा । क्रिया के बिना, उससे होने वाले पुण्यपाप कैसे होंगे? । अनित्यपक्ष में भी पुण्यपाप की सिद्धि नहीं हो सकती । क्योंकि क्रिया करने वाला तो उत्पत्तिकाल में हीं नष्ट हो जायगा, तो क्रिया कौन करेगा ?, तथा उससे होने वाले पुण्यपाप

किसको होंगे ? । पुण्यपाप के अभाव होने से भी सुख दुःख का अभाव ही सिद्ध होता है । क्योंकि सुख दुःख का कारण पुण्यपाप है । कारण के अभाव होने से कार्य का अपने आप अभाव हो जायगा । पुण्यपाप नहीं होने से बन्ध भी नहीं होगा । क्योंकि पुण्यपाप ही बन्ध है । बन्ध के अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जायगा । क्योंकि बन्धन का मोक्ष होता है । इस प्रकार एकान्तवाद में सुखदुःखभोग आदि का अभाव हो जायगा) । हे जिनेन्द्र ! परतीर्थिकों को एकान्तवाद का व्यसन है । (क्योंकि दोष को देखकर भी उसका त्याग नहीं करते हैं) । इसलिये परतीर्थिक लोग दुर्नीतिवाद (एकान्तवाद) का व्यसनरूपी तलवार से सम्पूर्ण जगत को ही लुप्तकरने पर तुले हुए हैं । (पुण्यपाप ही सृष्टि के कारण हैं । एकान्तवाद में पुण्यपाप का सम्भव नहीं । इसलिये कारण नहीं रहने से कार्यरूप जगत् का लोप अनिवार्य हो जायगा । किन्तु ऐसा होता नहीं है, इसलिये एकान्तवादी लोग दुर्नयवादी हैं ।) ॥ २७ ॥

हे जिनेन्द्र ! दुर्नय (एकान्तवाद) के वाक्यों से पदार्थों का ' सत् ही है ' इस प्रकार अन्यधर्मों का निषेध कर के ही ग्रहण होता है । (यह दुर्नय इसलिये है की इस पक्ष में रहने वाले असत्त्व अनित्य आदि धर्मों का निषेध हो जाता है, इसलिये पदार्थों का यथार्थ स्वरूप में ग्रहण नहीं होता है ।) नयवाक्यों से (घटादि

पदार्थ सत् हैं) इस प्रकार पदार्थों का ग्रहण होता है । इस पक्ष में अन्य धर्मों का निषेध नहीं होता है, किन्तु विवक्षित धर्म का प्रतिपादन मात्र होता है, इसलिये वस्तु के एक अंश का यथार्थ रूप में ग्राहक होने के कारण यह पक्ष व्यवहार के लिये ग्राह्य है । प्रमाण (सप्तभङ्गात्मक) वाक्यों से (घटादि पदार्थ कथञ्चित् सत् हैं, इस प्रकार) पदार्थों का ग्रहण होता है । यहां कथञ्चित् पद लगने से अन्यधर्मों की भी साथ साथ सूचना हो जाती है इसलिये इस वाक्य से यथार्थरूप (अनन्तधर्मात्मक रूप) से पदार्थों का प्रतिपादन होता है । जिस वाक्य का अन्य धर्मों के निषेध में तात्पर्य न हो, किन्तु विवक्षित धर्म के प्रतिपादनमात्र में तात्पर्य हो, उसको नयवाक्य कहते हैं । नय सातप्रकार के होते हैं । जैसे— नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत । नैगम नय के अभिप्राय से सामान्य (घटत्व आदि) विशेष (घट आदि) दोनों भिन्न तथा सत् हैं । संग्रहनय के अभिप्राय से सामान्य हीं सत् है, विशेष नहीं । क्यों कि सामान्य से भिन्न विशेष की उपलब्धि नहीं होती है । व्यवहारनय के अभिप्राय से विशेष हीं सत् है, सामान्य नहीं । क्योंकि सामान्य से कोई व्यवहार नहीं होता, तथा विशेष से पृथक् सामान्य उपलब्ध नहीं होता । ऋजुसूत्रनय के अभिप्राय से वर्तमानकालिक वस्तु हीं सत् हैं । क्योंकि अतीत अनागत पदार्थ कार्यकरने वाले नहीं हैं । और कार्य के बिना किसी भी पदार्थ की सत्ता मानी नहीं जा सकती । शब्दनय

के अभिप्राय से समान लिङ्ग तथा सङ्ख्या वाले पर्याय शब्द एक अर्थ के वाचक हैं। किन्तु भिन्न लिङ्ग सङ्ख्या वाले नहीं। जैसे घट, कलश, ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। किन्तु-तट, तटी ये दोनों समानार्थक नहीं हैं। समभिरूढ नय के अभिप्राय से प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से शब्द भिन्न अर्थ के वाचक होते हैं। जैसे इन्द्र और शक्र ये दोनों समानार्थक नहीं कहे जा सकते। क्योंकि-ऐश्वर्य की अपेक्षा से इन्द्र शब्द की प्रवृत्ति है, तथा शक्ति की अपेक्षा से शक्र शब्द की प्रवृत्ति है। इसलिये ऐश्वर्यशाली इन्द्र कहा जाता है, शक्र नहीं, तथा शक्तिशाली को शक्र कह सकते हैं, इन्द्र नहीं। एवम्भूत नय के अभिप्राय से कोई भी शब्द अपनी प्रवृत्तिनिमित्तसहित अर्थ के ही वाचक हो सकते हैं अन्यथा नहीं। जैसे—पानी का लाना आदि घटना (क्रिया) रहने पर ही घट घट है। उक्त क्रिया के अभाव में घर में निष्क्रिय पड़ा हुआ घट घट नहीं। उस अवस्था में घट का व्यवहार औपचारिक ही है, वास्तविक नहीं। इस प्रकार नय का संक्षेप में यह विवरण है। इन नयों की अपेक्षा से ही लोग विवक्षावश पदार्थों का प्रतिपादन करते हैं। इसलिये पदार्थ सर्वनयात्मक हैं। पदार्थों को एकनयात्मक ही मानना दुर्नय है।) हे जिनेन्द्र ! आप यथार्थज्ञाता हैं, इसलिये नय तथा प्रमाण मार्ग का आश्रयण कर आप ने दुर्नयमार्ग का तिरस्कार किया है। (एकान्तवाद में

होने वाले दोष यहां नहीं हैं। क्यों कि इस पक्ष में पदार्थ सदसद् नित्यानित्याद्यनन्तधर्मात्मक माना गया है। इसलिये आत्मा द्रव्य-रूप से नित्य हैं, किन्तु पर्याय रूप से उस में सुख दुःख का भोग, पुण्यपाप की क्रिया, बन्ध मोक्ष, सभी का सम्भव है। एकान्त-वाद में यह सम्भव नहीं; इसका प्रतिपादन पूर्व में हो चुका है। इसलिये निर्दुष्ट पक्ष का स्वीकार करने के कारण जिनेश्वर हीं यथार्थ ज्ञानी हैं, दूसरे नहीं।) ॥ २८ ॥

मितात्मवाद (आत्मा अनन्त नहीं, किन्तु परिमित है, इस प्रकार का सिद्धान्त) मानने से—या तो मुक्त का संसार में आगमन मानना पड़ेगा, या संसार जीवशून्य हो जायगा। क्यों कि काल अनादि अनन्त हैं, यदि आत्मा को परिमित माना जाय, तो चिरकाल में भी ज्ञान से सब जीवों की मुक्ति सम्भवित है। ऐसी स्थिति में जीव फिर से भवग्रहण करें, तभी भव रह सकेगा। ऐसी स्थिति में मुक्ति का कोई अर्थ हीं नहीं रह जायगा। क्यों कि पुनः भव का न होना हीं मुक्ति है। इस प्रकार मितात्म वाद में भव का लोप या मुक्ति का अभाव इन दोनों में से एक दोष अनिवार्य है। हे जिनेद्र ! आपने तो षड्जीवकार्योंको (पृथ्वी; अप, तेज, वायु, वनस्पति, त्रस-काय) इस प्रकार से अनन्तसंख्यक कहा है, जिससे कोई दोष नहीं होता। (जो अनन्तसंख्यक है, उस में से अनन्त संख्यक पदार्थ के निकाल जाने पर भी, उसकी अनन्तता रहेगी) अन्यथा उसको

अनन्त हीं नहीं कहा जा सकता । इसलिये अनादि अनन्त काल में अनन्त जीवों के मुक्त होने पर भी अनन्त जीव सदा हीं बद्ध रहेंगे हीं । तो भवविलोप कैसे होगा ? । तथा मुक्त जीव को भव में पुनरागमन मानने की क्या आवश्यकता ? । इसलिये उपर्युक्त दोष नहीं हो सकता) ॥ २९ ॥

हे जिनेन्द्र ! जिस प्रकार दूसरे प्रवाद=नित्य अनित्य आदि एकान्तवाद (यथाकथञ्चित् छल आदि का आश्रय करके जिस वाद का समर्थन किया जाय ऐसा वाद=प्रवाद, तथा जिसके समर्थन में सत् तर्क का आश्रय लिया जाता है, उसको वाद कहते हैं । दूसरे एकान्तवाद प्रवाद हीं हैं, क्योंकि उनके समर्थन में सत्तर्कों का अभाव है, यह बात पूर्व में की गयी परीक्षा से सिद्ध हो चुकी है ।) परस्पर पक्ष प्रतिपक्षभाव (एक हीं पदार्थ में विरुद्धधर्मों का उपन्यास तथा स्पर्धापूर्वक अपने अपने पक्षों का समर्थन का आग्रह) होने के कारण अत्यन्त असहिष्णु हैं । (एक दूसरे के खण्डन में किञ्चित् भी धैर्य नहीं रखते हैं । किन्तु जिस किसी भी प्रकार से खण्डन में प्रवृत्त रहते हैं । क्योंकि उनको अपने अपने पक्ष में राग है ।) हे जिनेन्द्र ! सर्व (सात) नयों को सामान रूप से स्वीकार करने वाला, किसी भी पक्ष में राग रहित आप का सिद्धान्त स्याद्वाद वैसा (असहिष्णु) नहीं है । (आप स्वयं वीतराग हैं, इसलिये आप का सिद्धान्त भी राग रहित है, क्योंकि कारण

के अनुसार ही कार्य होता है । दूसरे तो स्वयं रागी हैं, तो उनका सिद्धान्त रागरहित कैसे होगा ? । इसलिये आप का सिद्धान्त ही विरोधशून्य होने के कारण तथा समदर्शी होने के कारण ग्राह्य है । अपेक्षाभेद से विरोध नहीं रहने के कारण पदार्थ सर्वनयात्मक हैं, यह सिद्धान्त पूर्व में तर्कों द्वारा सिद्ध हो चुका है । इसलिये स्याद्वाद में पक्षप्रतिपक्षभाव, तथा तन्मूलक असहिष्णुता भी नहीं है ।) ॥ ३० ॥

हे पूज्यतम ! जिनेन्द्र ! (आप के सिद्धान्त के कितने विषय परीक्षासे सिद्ध हो चुके हैं । किन्तु) आप की सम्पूर्ण वाङ्मयसमृद्धि के विवेचन=परीक्षण की इच्छा भी नहीं कर सकते हैं । (क्योंकि जो कार्य साध्य होता है, लोग उसकी ही इच्छा भी करते हैं । कोई भी असाध्य कार्य करने की इच्छा नहीं करता ।) यदि वैसी इच्छा करें, तो जांघ के बल से (पाँव के बल पर) समुद्र को लाँघने की इच्छा भी कर सकते हैं । तथा चन्द्रकिरण के पीने की इच्छा भी कर सकते हैं (जैसे समुद्र के लाँघने तथा चन्द्रकिरण पीने की कोई इच्छा नहीं करता, क्योंकि वह असाध्य है । उसी प्रकार हमलोग भी समुद्र के समान अपार तथा चन्द्रकिरण के समान निर्मल, जगत्प्रकाशक तथा प्रयास करने पर भी दुर्ग्राह्य ऐसे आप के वाङ्मय के विवेचन की इच्छा नहीं कर सकते । जिस के विषय में इच्छा भी अशक्य है, उसको कर सकने की बात भी कैसे की जा सकती है ?) ॥ ३१ ॥

हे जिनेद्र ! दुष्ट तथा नष्टबुद्धिवाले परतीर्थिकों ने ऐन्द्र-जालिक (जादूगर) के जैसे इस संसार को, जहां तत्त्व अतत्त्व का कोई विवेक नहीं है, इसलिये जो अधःपतन का निमित्त होने के कारण भयङ्कर है—ऐसे अज्ञानरूपी अन्धकार में धकेल दिया है । (जैसे जादूगर माया का प्रयोग कर लोगों को जीवते हुए को मृत आदि रूप से कुछ का कुछ हीं दिखाकर अत्यन्त अज्ञान अवस्था में रखता है । वैसे हीं परतीर्थिक लोगों ने असत्कों का आश्रय लेकर सरलमति लोगोंको तत्त्व को अतत्त्व तथा अतत्त्व को तत्त्व बताकर अज्ञानके गढ़े में धकेल दिये हैं ।) किन्तु इस प्रकार से लोगों को ऐह-लौकिक तथा पारलौकिक अहित होता है, इसलिये यह अत्यन्त खेद का विषय है । हे पालनहार ! ऐसी स्थिति में इस जगत् का, निश्चित-रूप से यथार्थवक्ता होने के कारण केवल आप हीं उद्धार करने में समर्थ हैं । इसलिये निजहितेच्छु विवेकी लोग आपके विषय में हीं सेवा की भावना रखते हैं । (विवेकी लोग रक्षक की हीं सेवा करते हैं । अन्य की सेवा तो उलटे अनर्थकारक हीं होगी । यथार्थवक्ता होने के कारण आप हीं आप्त तथा सेवनीय हैं) ॥ ३२ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिताऽन्ययोगव्यवच्छेद-
द्वित्रिंशिकास्तुतेःश्रीतपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रभृत्यनेकती-
र्थोद्धारकबालब्रह्मचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कारसमयज्ञ -

शान्तमूर्त्याचार्यवर्यश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वरपट्टधरसिद्धान्तमहोदधिप्राकृ-
 तविद्विशारदाऽऽचार्यवर्यश्रीकस्तूरसूरीश्वरशिष्यश्रीकीर्तिकन्द्रविजयगणि-
 विरचितःकीर्तिकलास्यो हिन्दीभाषानुवादः समाप्तः ।



